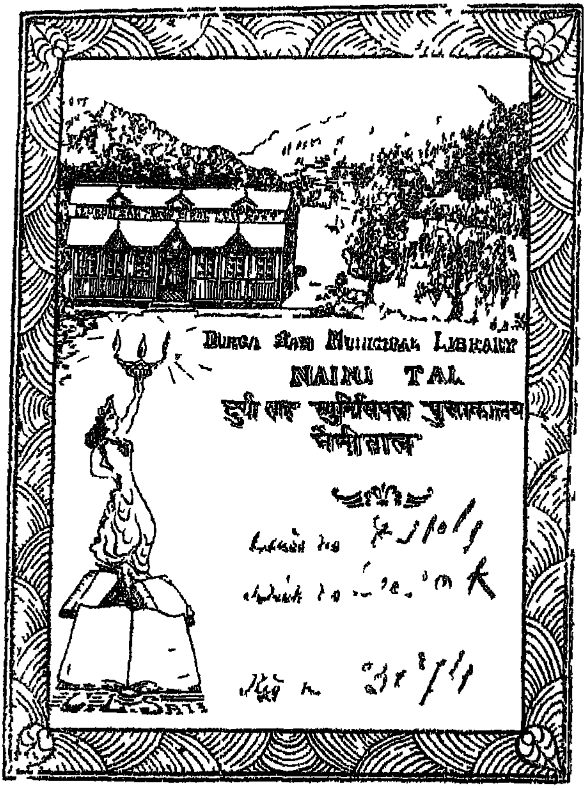


इस पुस्तक का नाम स्वयं अपनी उपयोगिता को स्पष्ट कर देता है। लेखक श्री सुधाकर पाण्डेय ख्यातिलब्ध समीक्षक और पारदर्शी साहित्यकार हैं। अध्यापक भी हैं, अतएव केवल साहित्यिक पाठकों को ही नहीं, बल्कि मननशील जिज्ञासु छात्रों को भी अपनी लेखनी से पूर्ण लाभान्वित करने का ध्यान रखते हैं। प्रस्तुत पुस्तक से साहित्य जगत को अनेक नयी बातें मिलेंगी और कई विषयों पर पुनः विचार करने के लिए नवोपलब्ध सामग्री मिलेगी।

कृति और कृतिकार

[समीक्षात्मक निबंधों का संग्रह]

कृति
और
कृतिकार

सुधाकर पांडेय

प्रकाशक—कल्याण दास एण्ड ब्रदर्स, चौक, वाराणसी।
मुद्रक—सन्मार्ग प्रेस, वाराणसी।
आवरण शिल्पी—काँजिलाल

प्रथम संस्करण अप्रैल, १९५७।
मूल्य—साढ़े चार रुपए।

पं० कमलापति त्रिपाठी को सादर

निवेदन

समय समय पर लिखे गए मेरे अट्ठारह निबंधों का संग्रह इस पुस्तक में है। इनके संबंध में मुझे कुछ नहीं कहना है। इनमें प्रायः सभी निबंध इधर-उधर प्रकाशित हो चुके हैं।

श्री कल्याण दास अग्रवाल एम. एस. सी., श्री गोविन्द माहेश्वरी के आग्रह एवं प्रयत्न का परिणाम यह पोथी है। श्री मनु शर्मा एम. ए., श्री लालजी सिंह, श्री श्रीनाथ सिंह, श्री रत्नाकर पांडेय का भी कृतज्ञ हूँ।

विश्वास है कि हिंदी-जगत् मेरी अन्य रचनाओं की भाँति इसे भी समादृत करेगा।

चैत्र शुक्ल १४, २०१४ वि०
गोला दीनानाथ, वाराणसी।

विनम्र
सुधाकर पाण्डेय

अनुक्रम

कृति और कृतिकार

[१]

छायावाद और उसके प्रवर्त्तक

हिन्दी साहित्य में प्रसाद जी ने नयी भाव-भूमि पर अभिनव काव्य की स्थापना की। द्विवेदी युग में स्थूल-रूप से सामाजिक, वैज्ञानिक पौराणिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक विषयों पर ही रचनाएँ की जाती थीं। यद्यपि प्रसाद जी ने भी उन विषयों पर रचनाएँ कीं, तो भी उन्होंने अनेक नये विषयों को, जिनका संबंध प्रकृति एवं अन्तर-जगत से है, काव्य का विषय बनाया। यथाः—

रूप, किरण, विषाद, बालू की बेला, धूल का खेल, दर्शन, स्वभाव, स्वप्न-लोक, आदेश, प्यास, दीप, चित्त, अव्यवस्थित, झरना, बसंत, प्रत्याशा, पाईबाग, शिथिल, प्रियतम, करुणा, हृदय-वेदना, निशीथ-नदी, रमणी-हृदय, विरह, रजनी-गंधा, शिल्प-सौन्दर्य, कल्पना, होली की रात आदि।

दूसरी एक बहुत बड़ी बात प्रसाद जी ने काव्य के क्षेत्र में उपस्थित की। वह बड़ी बात है, हिन्दी कविता को नयी भाव-शैली पर उपस्थित करना। 'छायावाद' जिस काव्य का नाम है, उसका आदि प्रवर्त्तन उन्होंने किया। आदि प्रवर्त्तन साभिप्राय मैंने लिखा है, यह अभिप्राय स्वयं आगे स्पष्ट हो जायगा।

अंग्रेजी शासन की दृढ़ स्थापना के बाद देश एक नयी स्थिति में था। अंग्रेजी शिक्षा की व्यवस्था के कारण देश में जितने भी शिक्षित निकलते थे, वे विचित्र परिस्थिति का अनुभव करने लगते थे। अंग्रेजों की दृष्टि शिक्षा क्षेत्र में इस माने में सफल रही कि इसकी छत्रछाया में, उन्होंने भारत के अतीत के सांस्कृतिक गौरव के ज्ञान से लोगों को विलग कर दिया। ऐसे अपने देश को अंग्रेजों की आँख से देखने लगे। दूसरा वर्ग ऐसा था जो पुरानी परिपाटी पर ही वर्तमान

परिवर्तनों में जीवन और समाज का मूल्यांकन करता था तथा वह नयी शिक्षा प्राप्त लोगों के बिल्कुल विरुद्ध था। ऐसी परिस्थिति में भी देश में कुछ ऐसे सजीव लोग बचे हुए थे जिन्हें भारत के अतीत का ज्ञान तो था ही, वर्तमान सामाजिक ढाँचे से तथा उसके प्रभाव से वे परिचित तो थे ही, साथ ही उनके सामने सामाजिक निर्माण का अपना पथ भी था, जो भारतीय होते हुए भी रूढ़िवादी नहीं, अपितु विकासवादी समन्वय प्रधान मनस्तत्व था। ये ऐसे व्यक्ति थे जो अपनी आँखों से समाज को देखते थे, समस्या का निदान करते थे और सामंजस्यपूर्ण व्याख्या उपस्थित करते थे। ऐसे लोग सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक सभी क्षेत्रों में थे।

मशीनों की उत्पादन-व्यवस्था ने देश में वैषम्य का द्रुतगति से बीजारोपण किया। फलतः विक्षोभ की एक व्यापक लहर जमाने में प्रतिष्ठित हुई। अंग्रेजों की कूटनीति तथा स्वार्थपरता की नीति ने उनका सत्यरूप बंग-भंग के समय सबके सामने रख दिया। जब देश का नेतृत्व गांधी जी के हाथ में आया, उन्होंने इन सभी प्रकार के विक्षोभों का प्रयोग देश के उत्थान के सबसे बड़े अवरोधक तत्व परतंत्रता के उन्मूलन में किया। देश में एक आदर्श की प्राप्ति के लिए, सभी शक्तियों को, विशेषकर पददलित, त्रासित भयग्रस्त लोगों को गांधी जी ने न केवल उठाया, अपितु एक आदर्श के लिए, उन्होंने सब में अहिंसावादी आन्दोलनों द्वारा व्यापक चेतना जगा दी। गांधी जी का मार्ग चिर पुरातन होते हुए भी भारत में भौतिकवादी मशीन की सभ्यता के अनुरूप चिर नवीन भी था। जहाँ उन्होंने देश के प्रत्येक व्यक्ति के भीतर सुप्त शक्ति का आत्मबोध कराया, वहीं उन्होंने हर व्यक्ति को अपना मूल्य भी अपने रूप से समझने की प्रेरणा दी। इसके पूर्व तक हिन्दी में विशेषकर पद्य के क्षेत्र में परम्परागत रूढ़ि का प्राधान्य था। हिन्दी कविता एक ओर रीति-प्रणाली के पथ पर थी, दूसरी ओर वही या तो तुकबंदी में गद्य-सी रचना काव्य के नाम पर होती थी या कुछ बँधे-बँधाये आदर्शों और मान्यताओं के भीतर, जिसमें स्वदेश-प्रेम राष्ट्रीयता, शिक्षा आदि थे, कवि को संचरण करना पड़ता था। हिन्दी-साहित्य में कवि के रूप में जितने लोग वर्तमान थे, उनमें कुछ एक ही ऐसे लोग थे, जिनकी अधिकांश रचनाएँ

सरस बन पड़ीं, अन्यथा सभी द्विवेदी जी के आदर्शवादी लौह आवरण के भीतर उनकी मान्यताओं से सामंजस्य स्थापित करते थे। द्विवेदी जी द्वारा आविष्कृत काव्य की मशीन पर ही कविता का निर्माण करते थे। यह रूढ़िवादिता तथा मशीनों के उत्पादन की नीरसता तत्कालीन काव्य में है। ऐसे समय कुछ ऐसे कवि हिन्दी में आये जो वर्तमान कविता से अपना सामंजस्य स्थापित न कर सके। उन्हें अपनी आँखें मिली थीं, उनसे वे देखना जानते थे। उनकी दृष्टि इतनी पैनी थी कि वह आवरण ही नहीं, अन्तस्थल तक पहुँचना जानती थीं। वे ऐसे व्यक्ति थे जिनका मन मरा हुआ नहीं था, जो मशीन की भाँति निर्जीव न थे, अपितु जीवित व्यक्ति की चेतना उनमें थी, उनके पास अपना मन जो था। बाह्य परिस्थितियों का प्रभाव तो उनके मन पर पड़ता ही था, उनका अपना भी एक संसार था जिसमें सुख, दुख सभी कुछ था। अपने मन और आँखों से देखने वाले, अपनी अन्तरभावनाओं से वातावरण का सामंजस्य स्थापित करने वाले ये कवि छायावादी कवि के नाम से तथा इनकी कविता 'छायावाद' के नाम से संबोधित की जाने लगी।

प्रसाद के पूर्व जो कविताएँ लिखी जा रही थीं, उनमें आत्मीयता के विश्वास का अभाव था क्योंकि उनका सम्बन्ध मूलतः दृष्टि से था। कवि ने किसी वस्तु को देखा, उसे आँखों से जो भी दिखायी पड़ा, वह उसका स्थूल वर्णन कर देता था। इसे यों भी कह सकते हैं कि काव्य-रचना पद्यबद्ध रूप में बुद्धि के सहारे आँखों को आधार मानकर की जाती थी। आँखों का परिचय स्थायी तभी होता है, जब हृदय का सम्बन्ध दृश्यवस्तु से स्थापित हो। उसके लिए संवेदन-संचारण की आवश्यकता पड़ती है। संवेदना का संचारण जिज्ञासा-वृत्ति को जन्म देता है। जिज्ञासा लालसा से फलती और फूलती है तथा उसके फल रूप में आत्मीयता का सतत विकास होता है।

यह आत्मीयता जितनी ही व्यापक एवं संवेदनशील होगी, कवि की अनुभूति उतनी ही गहरी होगी तथा उसके काव्य का जीवन जिज्ञासा के सतत् विकास के कारण उतना ही आभावान भी।

जो पदार्थ जितना ही संवेदनशील होता है, वह उतनी ही बड़ी सीमा में आत्मीय-विश्वास की सृष्टि करता है। इस दृष्टि से द्विवेदीकालीन कविता जिज्ञासा और आत्मीयता के अभाव में व्यापक संवेदना का प्रसार नहीं कर पा रही थी। दृष्टि का व्यापार वाह्यावरण से तत्काल सम्बन्ध स्थापित करता है, किन्तु दृष्टि का व्यापार पंचतत्वों की भाँति ही परिवर्तनशील, नश्वर एवं असन्तोषमूलक होता है। यह असन्तोष उस समय तक सन्तोष बँधा सकता है, जब तक उपभोग के लिए व्यक्ति प्रयत्न करता रहता है। प्रयत्न की समाप्ति के पश्चात् ही सन्तोष भी दम तोड़ देता है और नयी वाञ्छा के लिए प्रयत्नशील भौतिक इन्द्रियव्यापार नये तत्वों के निदर्शन के लिए यत्नशील होता है। जबतक पूर्व उपभोग्य पदार्थ काम आता रहता है, तब तक उसका ध्यान-मान उपभोक्ता करता है, अन्यथा सड़ी हुई वस्तु की भाँति उसे बाहर फेंक देता है। यह उपयोगितावादी दृष्टिदर्शन असंतोष का सदैव सृजन करता है। असंतोष को संतोष में परिणित करने का चिरन्तन प्रश्न थक कर रूढ़ग्रस्त हो जाता है और जीवन में विश्वास की परिसमाप्ति हो जाती है। उस परिसमाप्ति की सीमापर कुछ लोग आदर्श बनाकर ठहर जाते हैं और जो नये आते हैं, वे पुनः उसी चक्र-जाल में फँस जाते हैं। किन्तु हृदय की दृष्टि संवेदन और संतोष को जिस सीमा का निर्माण करती है, वह सदा स्थायी रहती है। इस स्थायित्व के मूल में आन्तरयोग का आत्मसमर्पण-मय सतत् संयोग होता है। इसे आँखें नहीं, हृदय बनाता है।

प्रसाद जी के पूर्व की कविता में तब तक तो नयी पीढ़ी पिली रही, जब तक प्रयत्न के पीछे स्थायी संतोष की कामना का स्वप्न था। आधुनिक-काव्य की गंगा जब ऊबड़ खाबड़ पथरीली भूमि में बहती रही, भागीरथी के रथ के साथ चलने वाले अनेक साहित्यिकों ने गंगोत्री पर ही गंगा की समाप्ति सीमा समझकर, वहीं गंगा को छोड़ देना उचित समझा। उनकी दृष्टि में उन्हें समतल भूमि पर लाने का प्रयत्न उचित न जँचता था और आदर्श वचनावली में उन्होंने सिद्धान्त की स्थापना की। उन सिद्धान्तों पर वे पहाड़ की तरह अटल थे। किन्तु उनके वे साथी, जिनको गंगा के बीहड़ प्रवाह में जीवन का स्रोत न मिला, ऐसों की बातोंमें विश्वास का सत्य नहीं, आँखों का शील मानने लगे। छन्द के परिष्कार में, खड़ी

बोली की स्थापना में योग देने के बाद ऐसों की आँखें खुली। हृदय की शाश्वत तृप्ति के लिए अब तक का प्रयत्न उन्हें समुद्र का जल लगा। उन्होंने संवेदनशीलतापूर्वक आत्मीयता की भित्ति पर काव्य को जीवन के क्षेत्र में प्रवाहित करने का महत्वपूर्ण नव आयोजन आरम्भ किया।

यह पहले ही निवेदन किया जा चुका है कि आत्मीयता का संबंध हृदय से होता है। हृदय संबंध के आतिथ्य के लिए जिस रस की आवश्यकता होती है, उस रस के प्रणयन और नियमन के लिए जिज्ञासा और लालसा भरी हृदय की अनुभूतियों का संबंध और विकास आवश्यक होता है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए कवि का हृदय मचल पड़ा और उसने नवीन साधना आरम्भ की। इस साधना के लिए जहाँ उसने रस की खोज की, वहीं उसने गंध को प्रसारित करने का प्रयत्न भी आरम्भ किया। उसके इस कृतित्व को देखकर जीवन के सत्य से हारे रूढ़िग्रस्त आदर्शवादियों ने हँसी उड़ाना आरम्भ किया। इस हँसी के मूल में नवयुवकों के प्रयत्न का नहीं, उनकी अनुभूति का सत्य था। हारे, जीत की कल्पना अपनी हो या दूसरों की, कभी नहीं करते। वे हँसी उड़ाते हैं। उससे अधिक वे कुछ कर भी तो नहीं सकते। किन्तु सत्य के सत्यान्वेषी उपहास को जीवन संबल समझ कर अपनी प्रेरणा को गति का मन्त्र देते हैं और आगे बढ़ते हैं। प्रसाद जी भी इसी रूप में आगे बढ़े।

युगों से हिन्दी काव्य में व्यक्ति की अनुभूति दबी रही। बीच-बीच में घन-आनन्द जैसे समर्थ कवि हुए जिन्होंने अपने मन के वास्तविक उद्‌गार प्रकट किये। पर परिपाटी की व्यापकता ने ऐसों पर विजय पायी। भारतेन्दु-युग में कहीं-कहीं कवि उभड़ा, पर उभार की लहर तत्काल ही युग की काव्यधारा में विलीन हो गयी। सिर उठाकर चलना बड़े साहस और विशाल व्यक्तित्व के लोगों का काम हुआ करता है। कवि के पास अपना दुःख-सुख, आशा और निराशा भी होती हैं। वह उसके जीवन को आन्दोलित करती है। उसका प्रभाव उसके जीवन और मन पर पड़ता है। पर सामने समाज में रूढ़ आदर्श रास्ता रोक देता है। उस समय ऐसी ही स्थिति में प्रसाद का कवि था। उनका 'मैं' अधिक बलशाली प्रमाणित हुआ। वह दबाये न दबा और काव्य की नव भाव-धारा फूट पड़ी।

द्विवेदीकालीन आदर्शवाद के सम्मुख यह व्यक्ति का नव भावोच्छ्वास तत्कालीन परिस्थिति के अनुरूप हुआ।

द्विवेदीजीके प्रभाव क्षेत्र की कविता में केवल बनी-बनायी बात थी, रूप रस था ही नहीं। मनुष्य केवल बातों से नहीं अघाता, उसे रूप, रस, गंध और नाद सभी कुछ चाहिये। अब प्रसाद की प्रारम्भिक सृष्टि में हम देखेंगे कि इसके लिए उन्होने क्या किया।

द्विवेदी जी के प्रभाव-क्षेत्र में जो काव्य-सृष्टि हो रही थी उसमें उर्मिला की उपेक्षा[1] से भले ही लोगो को पीड़ा पहुँचती रही हो और दूसरों की इंगित पर महाकाव्य रचने की प्रेरणा मिलती रही हो, पर ऐसी अन्धतमसवृत्ति वाले प्रदेश में अन्धों का सत्य लंगड़ों की लकड़ी के सहारे ही चलता है। इसीलिए युगकी राधा, सीता, सावित्री, दमयंती सब कुछ हो सकती थीं, किन्तु सृष्टि-धर्म-पालिका नहीं बन सकीं। पुरुष और प्रकृति का संयोग वहाँ वर्जित था। वर्जना इसलिये कि यान्त्रिक बौद्धिकता की आदर्श ड्युटी का बन्धन, कलर्कों के आदर्श कारखाने में 'वाचमैन' की तरह काम कर रहा था। क्लर्क आदमी ही होते हैं, वे गा लेते हैं, रो लेते हैं, किन्तु मालिक के सामने उनके हाथ में कलम और आँख के सामने रजिस्टर रहता है। उसी प्रकार काव्य के रजिस्टर पर आदर्श के नियमों के अनुसार आदर्श का कोट देखकर काव्य-निर्माण होने लगा। लव, कुश, भरत आदि जैसी प्रतिभाएँ जहाँ के काव्य ने उत्पन्न की थीं, वहीं के काव्य को भी इस अधूरे कोड से नियन्त्रित किया जाने लगा। वाल्मीकि का प्रकृति-जीवन, कालिदास का सौन्दर्यांकन अपनी मिट्टी का धर्म नहीं रह गया, अपितु कुछ और ही, जो नीरस था। इस नीरसता को दूर करने के लिए कालिदास और वाल्मीकि के देश की तप-पूत भूमि के युवक आगे आये। उनमें प्रसाद जी ने ऐसा रूप चित्रित करने का प्रयत्न आरम्भ किया, जिसे सब देखना चाहते थे।

---

(१) रवीन्द्र बाबू के लेख से अनुप्राणित हो श्री मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' की रचना की औ हरिऔध जी ने 'उर्मिला' के ऊपर एक तथा लम्बी कविता 'सरस्वती' में लिखी।

इस संबंध में उन्होंने जीवन के उस प्रदेश में प्रवेश किया जिसे लोग यौवन कहते हैं। यौवन से विरक्ति नहीं, संतुलित आसक्ति अपने देश के गृहस्थ का धर्म है। यहाँ सीता-राम के साथ वन जाती हैं। जीवन का दाँव हारने पर भी दमयन्ती नल को नहीं छोड़ती, जीवन की समर भूमि पर हारते समय कैकेयी दशरथ के रथ की धुरी बनती है। इन सब के मूल में बातों की बनावट नहीं, हृदय का सतत् समर्पणमय वह प्रवाह है जिसके मूल में धरातल की जीवनमयी संवेदनशीलता है। आश्चर्य तो तब होता जब इस देश के युवक वैराग्य की सोचते, पुरुष प्रकृति को छोड़ देती, युवक कवि आदमी का धर्म भूल जाते।

रूप का संबंध वासना के तारों से मन को संबद्ध करता है और मन बिंधते-बिंधते माला के रूप में हृदय में स्थान पाकर जीवन भर के लिये गल हार बन जाता है। वासना बुरी नहीं है, यदि वह शराब की न होकर जीवन की हो, भौंरों की न होकर आदमी की हो।

प्रसाद जी का रूप-चित्र आकर्षण की जिस शक्ति पर खड़ा हुआ उसमें यौवनोचित भावना का चारु संस्कार मिलता है। उस संस्कार के कारण उनकी रस-सृष्टि विराट चित्र की रेखाओं के रूप में सँवरकर सामने आने का उपक्रम करती है और काव्य स्वतः प्रस्फुट होता है।

कवि की सृष्टि का संतोष इन रेखाओं से ही रसपान नहीं कर पाता क्योंकि वासना की आग 'उपेक्षा' की भूल से उसे मर्माहत करती है, उसका मन खिन्न हो उठता है। उस खिन्नता के लिए विद्रोही मन ज्यों ही स्वर निकालने का प्रयत्न करता है, सुन्दर के तिरस्कार का भय उसे उपदेशक बना देता है। मंच का उपदेशक नहीं, हृदय का उपदेशक और वह उपदेश होता है, समझाना-बुझाना। जब समझाने-बुझाने से भी काम नहीं चलता तो उपालंभ की ओर उसका ध्यान जाता है। उपालंभ में सर्वनाम की महत्ता काँचन-सुरभियोग की भाँति फूटती है क्योंकि वहाँ प्रिय की कटुता से मुक्ति का सरस विधान तो रहता ही है, साथ ही प्रिय के मंगल के लिये हृदय का आग्रह तथा मन का परितोष भी। हृदय से मानी हुई सुन्दर वस्तु को कोई कैसे सीधे बुरा कह सकता है। वह तो इसी रूप में उसे प्रकट कर सकता है—

सरासर भूल करते हैं, उन्हें जो प्यार करते हैं।
बुराई कर रहे हैं और अस्वीकार करते हैं॥
उन्हें अवकाश ही इतना कहाँ है मुझसे मिलने का।
किसी से पूछ लेते हैं यही उपकार करते हैं॥
जो ऊँचे चढ़ कर चलते हैं वो नीचे देखते हर दम।
प्रफुल्लित वृक्ष ही यह भूमि कुसुमागार करते हैं॥
न इतना फूलिये तरुवर, सुफल, कोरी कली लेकर।
बिना मकरन्द के मधुकर नहीं गुंजार करते हैं॥
'प्रसाद' उनको न भूलो तुम, तुम्हारा जो कि प्रेमी हो।
न सज्जन छोड़ते उसको, जिसे स्वीकार करते हैं॥[१]

साहित्य में इस पद्धति से बराबर काम लिया जाता रहा है। यहाँ तक कि यह पद्धति लोकोपकार में भी सहायक सिद्ध हुई है। प्रायः हिन्दी साहित्य के प्रत्येक इतिहास में इसका उदाहरण इन पंक्तियों से मिल जाता है—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल,
अली कली ही सों बँध्यो, आगे कौन हवाल ?[२]

—बिहारी

लेकिन प्रसाद जी केवल लीक पर चलने वाले व्यक्ति तो थे नहीं। जब उन्हें बराबर समाज में रहकर ऐसी भावना को अभिव्यक्त करना पड़ा तो उन्हें नया रास्ता निकालना पड़ा। जिस प्रकार लोग समाज में बैठकर इशारे से या सांकेतिक शब्दों से आत्मीयों के भीतर रस-सृष्टि कर लेते हैं, उसी प्रकार नवीन प्रतीक विधानों का नियमन प्रसाद जी को करना पड़ा। किन्तु वह प्रतीक ऐसा होना चाहिए था जो जन परिचित न होते हुए भी आत्मीयजन परिचित हो। और प्रकृति से बढ़कर परिचित आत्मीय संकेत और कहाँ से मिल सकता है। इसलिये उन्होंने प्रकृति को, प्रतीक विधान के सहारे, अपने भाव प्रकाशन का आधार

१—इन्दु, पृष्ठ ४११—७ मई १९१३।

बनाया। प्रकृति का हृदय पक्ष भी तो समाज से, कवि संसार से दूर हट गया था। उस समय प्रकृति अपने में स्वयं इतनी संकेतमयी थी कि सर्वनाम का काम कर सकती थी, तथा इस कार्य द्वारा संवेदनशीलता की सृष्टि-रचना भी। इसीलिए दिनोत्तर प्रतीक विधान में प्रकृति प्रमुख होती गयी और अन्ततोगत्वा जो काव्य छायावाद के अन्तर्गत संभुक्त होता है, वह प्रकृतिमय बन गया।

जब प्रतीकों में बात कही जाती है और ऐसे स्थान पर कही जाती है, जहाँ अनेक होते हैं, तो उन्हें बुरा लगता है, जो समझ नहीं पाते। प्रसाद की कविता भी ऐसों को बुरी लगी जमी-जमायी महफ़िल का मुँह उसी प्रकार ईधर मुड़ गया, जिस प्रकार कभी घनआनन्द का मुँह सुजान की ओर मुड़ा था। तब कविता के संचालकों का कुपित होना स्वाभाविक था। व्यंग्य में उन्होंने इस नये काव्य को 'छायावाद' की संज्ञा दे दी।

पथ पर भाव के दीवाने चलते समय कभी यह नहीं देखते कि उनकी राह पर दर्शक फूल बिछा रहे हैं, या काँटें बिखेर रहे हैं। गले में पदत्राण की माला पहना रहे हैं या फूलों के हार से उनका स्वागत कर रहे हैं। भले ही वे परवाह न करते हों, किन्तु पथ पर घटित बातें उनके दृष्टि-व्यापार में तो आती ही हैं। छायावाद-काव्य का विरोध हुआ क्योंकि सत्ता की पूजा करने वाले उस युग में अधिकांश थे, मानसिक परवशता का युग जो था। यह विरोध इतना प्रबल हुआ कि प्रसादजी का 'छाया'[1] नामक कहानी-संग्रह निकला तो उसे भी लोगों ने दूसरी भाषा की कहानियों की छाया के रूप में ग्रहण किया।[2] भावना के वेग

१—सन् १९१२ ई० में प्रकाशित।

२—'इस पुस्तक में ६ आख्यायिकाएँ हैं। इसके 'आवरण-पत्र पर नाम के नीचे एक श्लोकार्द्ध है, और उसके नीचे लिखा है, जयशंकर 'प्रसाद'। इससे मालूम नहीं हुआ कि प्रसाद जी इस पुस्तक के रचयिता हैं, या अनुवादक हैं, या सम्पादक हैं। किन्तु कई आख्यायिकाओं की भाषा अनुमान कराती है कि प्रसाद जी ने इन्हें बंगला से अनुवाद किया होगा। हमने 'चन्दा' नाम की एक आख्यायिका पढ़ी। पर कुछ आनन्द नहीं मिला। शायद दूसरी आख्यायिकाएँ अच्छी हों।' (श्रीवेंकटेश्वर समाचार, १६ अप्रैल, १९१२)

में बहने वाले भी, मंजिल को एक मात्र उद्देश्य मानने वाले भी, पथ पर आँखें बन्द करके नहीं चलते। केवल हृदय ही उन्हें आगे नहीं बढ़ाता, अपितु वह अपने सारे राग-विराग भी अपने साथ लेकर चलते हैं।

'छाया' की यह बात बदल-बदल कर नया रूप धारण कर प्रत्येक चरण पर सुरसा की भाँति बढ़ने लगी। कोई उनके काव्य को पूर्व कवियों की छाया बताने लगा, कोई बंगला की नकल, कोई माइकेल मधुसूदन और कोई उन्हें रवीन्द्र के घर जूठन बटोरने वाला बताने लगा।[1] हृदय की चोरी करनेवाले औरों की चोरी नहीं किया करते, वे तो दूसरों के वैभव के पूजक होते हैं। वे उससे अपनी साधना के मंदिर की मूर्ति निर्मित करते हैं। उदाहरण के रूप में ताजमहल को लिया जा सकता है।

यह बात सर्वमान्य है कि ताजमहल संसार की उत्कृष्टतम मौलिक स्थापत्य कृति है। यदि कोई कहे कि इसमें बनानेवाले ने इटली की स्थापत्य कला, फारस की स्थापत्य कला, राजपूताने की चित्र-शैली की नकल की है तथा देश-विदेश के उन कलाकारों के भावों की चोरी पर अपनी प्रियतमा का स्मृति-मन्दिर खड़ा किया है तो ऐसा कहने वाले को कोई रोक नहीं सकता। लेकिन सत्य यही माना जायगा कि शाहजहाँ ने उसे उस प्रासाद के रूप में निर्मित किया, जिसमें संकल्पात्मक जिज्ञासा की वही सतत् विकासमयी लालसा थी जो लालसा राम के प्रति तुलसी की सत्पुरुष के प्रति कबीर की और माखन चोर के प्रति सूर की थी। वे भावनाएँ शाश्वत हैं, इसलिए ताजमहल को खून में रंगे देखनेवालों की

१—गत फाल्गुन मास के अंक में "इन्दु" से हँसी करते हुए "लक्ष्मी" ने लिखा कि "इन्दू बंगालियों का जूठा भात खाते-खाते बहुत बेतरह मोटा गया है।" पर, उसके अंकों को देखने से मालूम है कि "इन्दु" तो कम, बल्कि "लक्ष्मी" ही लोगों का जूठा खाने के लिये विशेष चेष्टा कर रही है।—'इन्दु' जुलाई, १६१२, पृष्ठ १०२

(यह स्मरणीय है कि प्रसाद जी का अधिकांश साहित्य 'इन्दु' में उस समय छपा और 'इन्दु' से उनके साहित्य एवं व्यक्तित्व का एकात्म्य था।)

आँखें भी उनकी प्रशंसा कर दिया करती हैं और शाहजहाँ के प्रेम-भाव की भी ऐसे लोग जय बोलते हैं।

"पूर्व छाया"[१] तक ही बात सीमित होती तो कोई बात न थी, आवारा शब्द से भी ऐसे भावना-सम्पन्न कवियों को विभूषित होना पड़ा। अभिशाप वरदान की भावना की अग्नि परीक्षा लेने लगे। लेकिन प्रसाद जी अडिग रहे। उनके संकेत व्यापक होते गये और अन्ततोगत्वा उनकी 'छाया' रस-पुलकन से संस्पर्शित हो काव्य के मंदिर में प्रतिष्ठित होने लगी। बढ़ती हुई प्रतिष्ठा को देखकर रूढ़-पंडितों की उछल-कूद बढ़ गयी। सत्य की प्रतिभा को काव्य के मन्दिर से निष्कासित करने के लिए वे जयचंद की भाँति प्रयत्न करने लगे।

प्रसाद जी अपने पथ पर अडिग रहे और काव्य के क्षेत्र में नव-पथ निर्माण के लिए सतत प्रयत्नशील भी। इस प्रयत्न पर व्यंग्य इस सीमा तक पहुँचा कि लोग प्रसाद के व्यक्तित्व ही नहीं, उनके कृतित्व पर भी आक्रोश का खून उतारने लगे! 'छाया' का विवाद इतना बढ़ा कि उन्होंने प्रसाद द्वारा प्रवर्तित काव्य को ही व्यंग्य में 'छायावाद' कहना आरंभ किया।

अभी तक हिन्दी जगत में प्रामाणिक रूप से यह कोई भी नहीं प्रगट कर पाया कि 'छायावाद' नामकरण क्यों और कैसे हुआ। 'छायावाद' नामकरण का कारण सर्वमान्य यह है कि नये काव्य के विरोधियों ने व्यंग्य में इस नयी कविता को 'छायावाद' के नाम से सम्बोधित करना आरम्भ किया और छायावादियों ने इस व्यंग को स्वीकार कर लिया।

१—अपने से पूर्व कवियों की छाया प्रायः कवियों की सहायक होती ही है। इसके अतिरिक्त एक कवि के भाव दूसरे कवियों के विचार से टक्कर खा हो जाना भी देखा जाता है। इससे भी दोनों पद्यों के भाव एक हो सकते हैं।

('इन्दु', क० ४, ख० १, किरण ४ पृष्ठ ३५३। यह उद्धरण उनके लिए उत्तर है, जो काव्य पर पूर्व कवियों की छाया की बात करते थे।)

—हरिवंश मिश्र काव्यतीर्थ के 'पूर्व कवियों की छाया' से उद्धृत

संसार में किसी भी भाषा के साहित्य में यह वाद नहीं है। 'छाया' को लेकर नोटिसबाजी[1] तक की नौबत आयी। ऐसी स्थिति में 'छायावाद' शब्द को 'छाया' के कर्त्ता के कृतित्व पर आरोपित व्यंग्य मानना ही मेरी दृष्टि में समीचीन लगता है। यह शब्द १६१३ से २० तक के बीच ही उत्पन्न हो गया था क्योंकि श्रीमुकुटधर पांडेय ने 'श्रीशारदा'[2] में 'छायावाद' के ऊपर १६२० में लेख लिखे और उसके बाद तो छायावाद का संघर्ष अपने यौवन पर पहुँच गया। इसके पूर्व ही 'छायावाद' शब्द की सृष्टि हो चुकी रही होगी।

हिन्दी में छायावाद का आरंभ

आचार्य शुक्ल जी के अतिरिक्त और किसी भी हिन्दी के तत्कालीन आलोचक ने छायावादी कविता के क्रमविकास पर विशेष गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया। यह श्रमसाध्य कार्य यदि उस समय हो गया होता तो संभवतः एक बहुत बड़ी भ्रांति निर्मूल हो गई होती—वह यह कि प्रसाद जी नहीं अपितु अन्य लोग छायावाद के मूल प्रवर्त्तक हैं।

अभी तक जो लेखा-जोखा हिन्दी में उपलब्ध हैं उसके अनुसार अधिकांश लोग केवल इसी मान्यता के हैं कि छायावाद के प्रवर्त्तक प्रसाद जी नहीं हैं, यद्यपि श्री किशोरीलाल गुप्त ने इस क्षेत्र में तथ्यात्मक प्रयत्न किया, परन्तु उनकी मान्यता का प्रचार-प्रसार व्यापक रूप से न हो सका। सत्य होते हुए भी उनकी मान्यता अकाट्य नहीं है। जहाँ पर आदि प्रवर्त्तन की आवश्यकता पड़ती है वहाँ काव्य का काल-क्रम महत्व रखता है। इस दृष्टि से ही शुक्ल जी ने अपनी मान्यता

१—इधर बाबू साहब (श्री जयशंकर प्रसाद) ने श्री वेंकटेश्वर समाचार सम्पादक के नाम "भारतजीवन" में एक पत्र बतौर नोटिस के छपवाया है। उसमें आपने सम्पादकजी को एक महीने की अवधि देकर कहा है कि 'इसके अन्तर्गत खोजकर आपको बताना चाहिये कि "छाया" के गल्प किसके अनुवाद हैं। सम्पादक महोदय को इसका अवश्य प्रमाण देना चाहिये।

—'इन्दु' मई १६१५, पृष्ठ ४८३।

२—जबलपुर से प्रकाशित।

स्थिर की है। अतएव इस भ्रम का निराकरण शुक्ल जी की ही कसौटी पर करना आवश्यक होगा।

छायावाद की कविता के संबंध में मैथिलीशरण गुप्त, श्री मुकुटधर पांडेय, बदरीनाथ भट्ट, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी आदि को उन्होंने आरंभ कर्त्ता के रूप में स्मरण किया है। साथ ही १९१४ से लेकर १९१७ तक की रचनाओं का उदाहरण उन्होंने देकर अपनी बात को सत्य प्रमाणित किया है।[3]

आचार्य शुक्ल के शब्दों में वह इस प्रकार है—

सुधार चाहने वालों में कुछ लोग नये-नये विषयों की ओर प्रवृत्त खड़ी बोली की कविता को ब्रजभाषा-काव्य की-सी ललित पदावली तथा रसात्मकता और मार्मिकता से समन्वित देखना चाहते थे। जो अंग्रेजी की या अंग्रेजी के ढंग पर चली हुई बंगला की कविताओं से प्रभावित थे, वे कुछ लाक्षणिक वैचित्र्य, व्यंजक चित्र-विन्यास और रुचिर अन्योक्तियाँ देखना चाहते थे। श्री पारसनाथ सिंह के लिखे हुए बंगला कविता के हिन्दी अनुवाद "सरस्वती" आदि पत्रिकाओं में संवत् १९६७ (सन् १९१०) से ही मिलने लगे थे। ग्रे, वर्ड्सवर्थ आदि अंग्रेजी कवियों की रचनाओं के कुछ अनुवाद भी (सिंह द्वारा अनूदित वर्ड्सवर्थ का "कोकिल") निकले। अतः खड़ी बोली की कविता जिस रूप में चल रही थी, उससे सन्तुष्ट न रहकर द्वितीय उत्थान के समाप्त होने के कुछ पहले ही कई कवि खड़ी बोली काव्य को कल्पना का नया रूप रंग देने और उसे अधिक अन्तर्भाव व्यंजक बनाने में प्रवृत्त हुए जिनमें प्रधान थे सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय और बदरीनाथ भट्ट। कुछ अंग्रेजी ढर्रे के लिये हुए जिस प्रकार की फुटकर कविताएँ और प्रगीत मुक्तक (Lyrics) बंगला में निकल रहे थे, उनके प्रभाव से कुछ विशृंखल वस्तु-विन्यास और अनूठे शीर्षकों के साथ चित्रमयी, कोमल और व्यंजक भाषा में इनकी नये ढंग की रचनाएँ संवत् १९७०—७१ ही में निकलने लगी थीं जिसमें कुछ के भीतर रहस्य-भावना भी रहती थी।

३—हिंदी साहित्य का इतिहास।

गुप्त जी की "नक्षत्रनिपात" (सन् १९१४) अनुरोध (सन् १९१५) पुष्पांजलि (१९१७), स्वयं आगत (-१९१८) इत्यादि कविताएँ ध्यान देने योग्य हैं। "पुष्पांजलि" और "स्वयं आगत" की कुछ पंक्तियाँ नीचे देखिये...

(क) : मेरे आंगन का एक फूल ।
सौभाग्य भाव से मिला हुआ श्वासोच्छ्वासन से हिला हुआ ।
संसार विटप में खिला हुआ,
झड़ पड़ा अचानक झूल-झूल ।

(ख) तेरे घर में द्वार बहुत हैं, किससे होकर आऊँ मैं
सब द्वारों पर भीड़ पड़ी है, कैसे भीतर जाऊँ मैं ।

इसी प्रकार गुप्त जी की और भी बहुत-सी गीतात्मक रचनाएँ हैं, जैसे—

(ग) निकल रही है उर से आह,
ताक रहे सब तेरी राह ।
चातक खड़ा चोंच खोले है, संपुट खोले सीप खड़ी,
मैं अपना घट लिए खड़ा हूँ, अपनी अपनी हमें पड़ी ।

(घ) प्यारे ! तेरे कहने से जो यहाँ अचानक मैं आया,
दीप्ति बढ़ी दीपों की सहसा, मैंने भी ली सांस कहाँ ।
सो जाने के लिए जगत् का यह प्रकाश है जाग रहा ।
किन्तु उसी बुझते प्रकाश में डूब उठा मैं और बहा ।
निरुद्देश नख रेखाओं में देखी तेरी मूर्ति, अहा ।

गुप्त जी तो, जैसा पहले कहा जा चुका है, किसी विशेष पद्धति या "वाद" में न बँधकर कई पद्धतियों पर अब तक चले आ रहे हैं, पर मुकुटधर जी बराबर नूतन पद्धति ही पर चले उनकी इस ढंग की प्रारंभिक रचनाओं में "आँसू", "उद्गार" इत्यादि ध्यान देने योग्य हैं ।

कुछ नमूने देखिये—

(क) हुआ प्रकाश तमोमय मग में,
मिला मुझे तू तत्क्षण जग में,

दंपति के मधुमय विलास में,
वन्य कुसुम के शुचि सुवास में,
था तव क्रीड़ा स्थान।

(१९१७)

(ख) मेरे जीवन में लघु तरणी,
आँखों के पानी में तर जा।
मेरे उर का छिपा खजाना,
अहंकार का भाव पुराना
बना आज तू मुझे दिवाना
तप्त श्वेत बूंदों में ढर जा।

(१९१७)

(ग) जब संध्या को हट जावेगी भीड़ महान्
तब जाकर मैं तुम्हें सुनाऊँगा निज गान।
शून्य कक्ष के अथवा कोने में ही एक
बैठ तुम्हारा करूँ वहाँ नीरव अभिषेक।

(१९२०)

पं० बदरीनाथ भट्ट भी सन् १९१३ के पहले से भी भाव व्यंजक और अनूठे गीत रचते आ रहे थे। दो पंक्तियाँ देखिये...

दे रहा दीपक जल कर फूल
रोपी उज्ज्वल प्रभा पताका अन्धकार हिय हूल।

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के भी इस ढंग के कुछ गीत सन् १९१५-१६ के आस-पास मिलेंगे।

यह तो साहित्य का सर्वमान्य सिद्धान्त है कि लक्षण ग्रन्थों की रचना बाद में होती है। इस सिद्धान्त के आधार पर देखा जाय तो अभी तक उपलब्ध सामग्री में छायावाद का विवेचन सन् १९२१ से माना जायगा। इसलिये शुक्लजी ने

सन् १६१४ से १६१७ तक की रचनाएँ उद्धृत अपनी बातों के मजबूती की जड़ जमाने का वैज्ञानिक प्रयत्न किया है। पर शुक्ल जी को 'झरना' में कुछ रचनाएँ छायावादी नजर आयीं। 'झरना' का प्रकाशन सन् १६१८ ई० में हुआ। जिन रचनाओं को शुक्ल जी ने छायावादी स्वीकार किया है, यदि उन रचनाओं को हम १६१४ के पहले सिद्ध कर दें, तो शुक्लजी का मान्यता अपने आप विदीर्ण हो जाती है। इस संबंध में प्रकाशक की राय से हम अवगत हैं, वह छायावाद का आरम्भ प्रस्तुत संग्रह द्वारा मानता है। प्रकाशक के इस वक्तव्य को प्रसादजी ने देखा होगा। पहले सस्करण न सही, दूसरे संस्करण में ही। यदि उन्हें यह मान्यता स्वीकार न होती तो सम्भवतः दूसरे संस्करण का प्रकाशकीय कुछ और ही होता।

चित्राधार के प्रथम संस्करण (१६१८) से बारह रचनाएँ 'झरना' के द्वितीय संस्करण (१६२७) में ली गयी हैं। पच्चीस कविताएँ पहले संस्करण में उसमें थीं, उनमें से केवल बाइस रचनाएँ ही झरना के दूसरे संस्करण में ली गयी हैं। ये ३४ रचनाएँ अपने आप सन् १६१८ के पहले की ठहरती हैं,—

१. समर्पण, २. परिचय, ३. झरना, ४. अर्चना, ५. पी कहाँ, ६. दर्शन, ७. परदेशी की प्रीति, ८. स्वप्न लोक, ६. सुधा में गरल, १०. आशा लता, ११. रत्न, १२. स्वभाव, १३. प्यास, १४. प्रत्याशा, १५. धूल का खेल, १६. अतिथि, १७. कसौटी, १८. वेदने ठहरो, १६. उपेक्षा करना, २०. भीख में २१. मिलन और २२. सुधा सिंचन। (प्रथम संस्करण की पत्र, बसन्त राका और एक तारा 'झरना' के द्वितीय संस्करण में नहीं है।) २३. प्रथम प्रभात, २४, खोलो द्वार, २५. अनुनय, २६. प्रियतम, २७. कहो २८. निवेदन, २६. पाईं बाग, ३०. आज इस घन की अँधियारी में, ३१. हृदय में छिपे रहो इस डर से, ३२. सुमन, तुम कली बने रह जाओ, ३३. आभा को करिये सुन्दर राका, और ३४. आया देखो विमल बसन्त।

यद्यपि 'झरना' में संग्रहीत 'बसन्त' और 'तुम' को श्रीकिशोरीलाल गुप्त[1] १६१८ के पहले की रचना मानते हैं, पर 'बसन्त' और 'तुम' १६२४ की रचना

१—प्रसाद का विकासात्मक अध्ययन

है। दीप, काव्य, अव्यवस्थित सन् १९२२ से १९२४ के भीतर प्रकाशित हुई है। बालू की बेला, कुछ नहीं, दो बूँदे १९२४ और १९२५ की रचनाएँ हैं। 'विषाद' भी १९२५ की रचना है। इनका प्रकाशन 'माधुरी' में हुआ था। इस प्रकार उपर्युक्त रचनाएँ, जिनपर हिन्दी जगत और शुक्ल जी भी मुग्ध हैं, निश्चय ही १९१८ के बाद की ही हैं। परन्तु अब देखना यह है कि जिन कविताओं को शुक्ल जी १९१८ के पहले की नहीं ठहराते हैं और जो उनके अनुसार छायावादी काव्य माना जा चुका है, उनमें क्या कुछ रचनाएँ ऐसी हैं जिनका प्रकाशन सन् १९१४ के पूर्व हुआ। इसे हम आगे देखेंगे।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की यह मान्यता है कि सर्व श्री मैथिलीशरण गुप्त, बदरी नाथ भट्ट और मुकुन्दधर पांडेय स्वच्छन्द नूतन पद्धति के प्रवर्तक हैं और उन्होंने यह स्पष्ट लिखा है कि प्रसाद जी ने पीछे उस नूतन पद्धति पर वैसी रचनाएँ लिखी हैं और भी वे कहते हैं कि रहस्यवादी अभिव्यंजना का पूरा अनूठापन एवं व्यंजक चित्र-विधान प्रसाद की जिन रचनाओं में मिलता है, उनसे पहले ही श्री सुमित्रानन्दन पन्त का 'पल्लव' बड़ी धूमधाम से निकल चुका था। अर्थात् श्री सुमित्रानन्दन पन्त उनसे पहले ही से इस नूतन पद्धति पर चल रहे थे।

शुक्ल जी की ये मान्यताएँ एकदेशीय हैं। जो लोग छायावाद युग के जीवित इतिहास हैं तथा जो ऐसे लोगों के सम्पर्क में हैं, वे ऐसा लिखने पर शुक्ल जी को दोष नहीं दे सकते, क्योंकि शुक्ल जी को जिस परिस्थिति में इतिहास लिखना पड़ा उसका वर्णन स्वयं डाक्टर श्यामसुन्दर दास ने किया है।[1] निर्विवाद रूप से उन्होंने जो कुछ नयी धारा के संबंध में लिखा है, उसमें पत्र-पत्रिकाओं में अतिशय अधिक उन्होंने 'सरस्वती' का सहारा लिया है, जब कि 'सरस्वती' एकपक्षीय थी। एकपक्षीय इसलिए कि सन् १९२७ तक एक भी लेख प्रसाद काव्य के नव सौन्दर्य के सामर्थ्य का उद्घाटन वहाँ नहीं कर सका।

लेकिन आश्चर्य तो ऐसी थिसिसों पर होता है जो छायावाद के आन्दोलन

१—आत्म कथा।

के समय पर लिखी गई हैं, किन्तु उसमें शुक्ल जी से आगे बढ़ने का प्रयत्न नहीं किया गया है। उदाहरण के प में हिन्दी साहित्य का विकास (१६००—१६२५ ई०) [प्रयाग विश्वविद्यालय के डी० फिल० के लिए स्वीकृत थीसिस का हिन्दी रूपान्तर] को लिया जा सकता है।[1] वही थोथी गलत, निराधार मान्यताएँ इसमें भी संश्लिष्ट मिलेंगी यथा, "स्वच्छन्दता का दूसरा चरण केवल साहित्यिक आन्दोलन मात्र न था, वरन् वह कलात्मक और दार्शनिक आन्दोलन भी था। उसमें विश्व की वेदना, सृष्टि का रहस्य, उदात्त भावना तथा प्रेम और वीरता को अपनाने की तीव्र आकांक्षा, अलभ्य श्रम से उद्भूत एकान्त वेदना और अनन्त निराशा आदि विशिष्ट दार्शनिक वृत्तियों का प्रदर्शन था। यह द्वितीय आन्दोलन १६१४ के आस पास मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडेय, राय कृष्णदास, बदरीनाथ भट्ट और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की स्फुट कविताओं से आरम्भ होता है, किन्तु इसका वास्तविक प्रारम्भ १६१८ से मानना चाहिये जब से 'प्रसाद', सुमित्रानन्दन पंत और 'निराला' की नवीन शैली की कविताओं का प्रकाशन होता है।[2]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार विषाद, बालू की वेला, खोलो द्वार, बिखरा हुआ प्रेम, किरण, बसंत की प्रतीक्षा इत्यादि पीछे जोड़ी हुई रचनाओं में स्फुट रूप से छायावादी कही जानेवाली रचनाओं की विशेषता मिलती है। शुक्ल जी की बात अपने आप कट जाती है क्योंकि 'खोलो द्वार' शीर्षक जैसी स्वीकृत रचना इन्दु, कला पाँच, खण्ड एक, जनवरी सन् १६१४ ई० में प्रकाशित हो चुकी है। इतना ही नहीं, १६१४ ई० में ही शिशिर और प्रियतम जैसी रचनाएँ भी अगस्त और सितम्बर के इन्दु में प्रकाशित हो चुकीं थीं। शुक्लजी ने इस संबंध में जितने उदाहरण दिये हैं, वे सब के सब १६१४ से १६१७ ई० तक के हैं। इस प्रकार शुक्लजी की बात अपने आप कट जाती है।[3]

१—हिन्दी-परिषद्, प्रयाग से १६४८ में प्रकाशित।

२—हिन्दी साहित्य का विकास [१६००-'२५]

३—देखिये शुक्ल जी का उद्धरण पृष्ठ १२ पर।

यही नहीं, जिस बीज बिन्दु का आरोप शुक्ल जी श्री मुकुटधर आदि पर करते हैं, वह बीज-बिन्दु प्रसाद जी की रचनाओं में सन् १६१० ई० से ही मिलना प्रारंभ हो जाता है। उदाहरण के रूप में कालक्रम के अनुसार उन्हें प्रस्तुत करने के विस्तार में नहीं जाना है।

झरना की उन ३१ रचनाओं के बारे में, जिनमें शुक्ल जी को यह सब मिल जाता है, निवेदन कर देना चाहता हूँ। उनमें से अनेक रचनाएँ १६१४ ई० के पहले की हैं। सन् १६११ ई० के इन्दु में प्रकाशित रचनायें जो 'कानन कुसुम' में संग्रहित हैं, उसको एक सामान्य उदाहरण के रूप में हम प्रस्तुत करते हैं।

विशाल मन्दिर की यामिनी में
जिसे देखना ही दीपमाला,
तो तारका गण की ज्योति उसका
पता अनूठा बता रही है।

ये तथ्य इस बात के समर्थक हैं कि प्रसाद ने इस नयी कविता का शुभारम्भ हिन्दी में किया।

[२]

प्रसाद का व्यक्तित्व

प्रसाद जी काशी में उत्पन्न हुए। काशी सदैव से ही 'मधुर मनोहर अतीव सुन्दर सर्वविद्या की राजधानी रही है।'[१] भारत की अन्तरात्मा यदि किसी एक नगरी में निवास करती है तो वह नगरी है काशी। जिस काशी में वह उत्पन्न हुए थे, वह काशी तीन लोक से न्यारी है। यहाँ का वातावरण न्यारा, यहाँ के लोग निराले और जो कुछ भी है सब अनूठा। काशी वाले सदैव से ही जीवन का मूल्य समझते रहे हैं। नश्वरता में आनन्द की जो लहरें काशी में हिलोरें लेती हैं, उनका दर्शन अन्यत्र दुर्लभ है। यहाँ पंडित, साधक, विद्वान और मूर्ख सब अपने अपने रंग में रंगे रहते हैं। मस्ती काशी की सबसे बड़ी सम्पत्ति है। यहाँ के लोग जीवन की लीला के नायक भी होते हैं और द्रष्टा भी। सब अपने-अपने में मस्त। यहाँ के गुंडे भी किसी स्थान के साधु से महान होते हैं और यहाँ के साधु भी कहीं के गुंडों से कम नहीं होते। यहाँ के लोग निर्भीक, उच्छृंखल और अपनी बात पर अड़ जाने वाले होते हैं। आवश्यकता पड़ने पर संगीनों के सामने अपनी छाती तानकर खड़े होना भी काशी के लोग जानते हैं पर अकड़ का मस्तक झुकते हुए नहीं देख सकते क्योंकि जीवन का क्या मूल्य है, काशी के लोग पहचानते हैं। उनका रहन-सहन सादा होता है। पर रईसी की बू उसमें झलकती है। वे सच्चे माने में रईस होते हैं।

आदि काल हो, मध्यकाल हो या आधुनिक काल हो, काशी का गौरव कभी परिवर्तित नहीं हुआ। वह काल सिन्धु की लहरों में खड़ा चिरंतन अटल ज्योति-स्तम्भ है। प्रसाद जी ऐसे ही सच्चे बनारसी वातावरण में उत्पन्न हुए थे। बनारस का सच्चा रूप उनके शैशव में उनके घर पर दीख पड़ता था। वह ऐरे गैरे नत्थू खैरे के घर पैदा नहीं हुए थे, अपितु एक सच्चे बनारसी रईस परिवार में

---

(१) काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुल-गीत पर आधृत।

उत्पन्न हुए थे। वे सुँघनी साव के पौत्र थे। सुँघनी साहु की अपने समय तूती बोलती थी। ऐसा सुँघनी साहु के स्वभाव के कारण था, उनके धन और वैभव के कारण नहीं। क्योंकि काशी की मिट्टी में यह असर है कि जो यहाँ पैदा होता है वह धन और वैभव से बड़ा सम्मान को समझता है और इस सम्मान की रक्षा के लिये काशी के लोगों ने जितना उत्सर्ग किया, उतना संसार के किसी एक नगर ने आज तक विश्व के इतिहास में नहीं किया है। यह वह नगरी है जहाँ पर महाकवि कालिदास को एक पनिहारिन टकासा जवाब दे काशी में शास्त्रार्थ करने से विरक्त कर देती है।[१] सुँघनी साहु के दरबार में सबका सम्मान होता था। कवि और पंडित जाते थे, शायर और सपूत आते थे, मगन और दाता भी। यह वह घर था जहाँ से सभी संतुष्ट होकर लौटते थे, यहाँ तक कि पहलवान भी। इतने विशाल हृदयवाली परम्परा का सम्बल बड़े सौभाग्य से किसी साहित्य-कार को प्राप्त होता है। इस वातावरण ने जहाँ प्रसाद जी के स्वभाव में चट्टान सी दृढ़ता भरी, महान उदारता भरी, सबकी सुनने और सहने की शक्ति दी, वहीं वह मुस्कान भी दी जिसका रहस्य लोग बीसों वर्ष तक उनके साथ रहकर भी लोग न पा सके और वे आज भी उनकी मुस्कान को एक पहेली समझते हैं।

विधाता जिसके प्रति दयालु होता है, उसे दुख और आपदाएँ देता है, जिसे जितनी ही दुख और आपदाएँ प्राप्त होती हैं, वह उतना ही महान बनता है यदि अपने मस्तक पर उन आपदाओं से विषाद की एक भी रेखा खींचने न दे, और अपने हृदय को छोटा न होने दे, निरंतर संघर्ष करता जाय। इस माने में निश्चय ही विधाता का वरदान प्राप्त था प्रसाद जी को। उन्होंने सदैव से ही स्मिति भरे आनन्द को जीवन का चरम साध्य समझा। पगली आपदाओं को मुस्कान भीख दे विदा किया। विधाता का वरदान उन्हें था। उन्होंने स्वयं लिखा भी है;

---

(१) उत्तर प्रदेशीय हिन्दी साहित्य संमेलन द्वारा आयोजित सन् १९५२ की कालिदास जयंती पर अध्यक्षपद से दिए गये साहित्याचार्य पं० महादेव शास्त्री के भाषण पर आधृत।

जिसे तुम समझे हो अभिशाप,
जगत की ज्वालाओं का मूल,
ईश का वह रहस्य वरदान,
कभी मत इसको जाओ भूल[२]।

१८८९ में वे उत्पन्न हुए। उनके पिता देवीप्रसाद जी थे। वे प्रसाद के पितामह बाबू शिवरतन साहु की परम्परा का पालन निष्ठा पूर्वक कर रहे थे। महाराज बनारस के यहाँ जो कलाकार आते, वे प्रायः उसके बाद इनके यहाँ जाते, चाहे वे कवि हों, विद्वान हों, भाट हों, चाहे इन्द्रजालिक और रागी देवीप्रसाद जी की जय मनाते लौटते। गुण के ग्राहक तो वे थे ही, साथ ही किसी को अपने दरबार से निराश होकर लौटने देना वे उचित नहीं समझते थे। काशी नरेश यहाँ के बड़े महादेव थे और ये छोटे। इनका घर का जीवन क्या था, यह देखना अब अप्रासंगिक न होगा।

११ वर्ष की आयु में इन्होंने धारा क्षेत्र, ओंकारेश्वर, पुश्कर, उज्जैन, जयपुर, ब्रज, अयोध्या आदि स्थानों पर अपनी माँ के साथ संस्कार-यात्रा की, वहाँ के नैसर्गिक दृश्यों ने उनके मनको लुभा लिया जिसका व्यापक प्रभाव इनके जीवन और साहित्य पर भी पड़ा। प्रकृति की वह सुषमा उनके जीवन पर लकीर बन गयी जो जीवन के अन्त तक बनी रही।

उनके पिता पहले ही स्वर्गवासी हो चुके थे। १५ वर्ष तक केवल माँ का प्यार पा सके। घर के कर्ता-धर्ता और विधाता उनके बड़े भाई शम्भूरत्न जी थे। शम्भूरत्न जी का इनसे अपूर्व स्नेह रहा। वे इन्हें अपने घर की परम्परा में ढालना चाहते थे। इन्हें कुशल व्यवसायी के रूप में वे देखना चाहते थे। यही कारण था कि जब उन्हें यह पता चला कि जयशंकर दूकान पर बैठकर रद्दी कागजों पर कविताएँ लिखा करते हैं, तो वे रुष्ट हुए। दो वर्ष तक बाबू शम्भू-रत्न जी का प्यार इन्हें प्राप्त हुआ। शम्भूरत्न जी सच्चे माने में बनारसी रईस थे। उनके यहाँ भी कलाकारों का, अखाड़ियों का जमघट होता था। बहुत

---

(२) कामायनी पृष्ठ ४३, अष्टम संस्करण।

उदार थे, वे खर्च के मामले में। ऐसे तो स्वयं रियाजी जीव थे, बलिष्ठ थे, सुन्दर थे उनका व्यक्तित्व मन को आकर्षित करनेवाला था। उनके यहाँ से भी लोग निराश नहीं लौटते थे। उनके संबंध में भी कुछ लोगों ने यहाँ तक बताया है कि वे काशी के अपने समय के वाजिद अली शाह थे, खर्च के मामले में। प्रसाद जी पर उनका ऐसा स्नेह था जैसा बड़े भाई से छोटे को बड़े सौभाग्य से मिलता है। उन्होंने प्रसाद जी के निर्माण के लिए उनके कविता लिखने पर प्रतिबन्ध लगाया। किन्तु जब अभ्यागतों ने उनके काव्य-प्रतिभा की उनसे प्रशंसा की तो उन्होंने उनपर से प्रतिबन्ध ही नहीं हटाया उनके, पढ़ने पढ़ाने की प्रौढ़ व्यवस्था की। जहाँ तक स्कूली शिक्षा का प्रश्न है सातवां कक्षा तक ही वह क्वींस कालेज में शिक्षा प्राप्त कर सके थे। पिता चल बसे थे, स्कूल की पढ़ाई समाप्त हो गयी। पर बाबू शम्भूरत्न ने इनके लिए घर पर ही अंग्रेजी और संस्कृत की पढ़ाई का अच्छा प्रबन्ध किया। दीनबन्धु ब्रह्मचारी जैसे सद्पुरुष को इन्होंने इनका अध्यापक नियुक्त किया। वेद और उपनिषद के प्रभाव ने जो छाप प्रसाद पर छोड़ी है वह दीनबन्धु ब्रह्मचारी के अध्यापन का प्रभाव है। प्रसाद जी अपने पैरों पर खड़ा भी न हो पाये थे कि १७ वर्ष में बाबू शम्भूरत्नजी ने भी सदैव के लिये उनका साथ छोड़ दिया।

अब काशी के एक महान प्रतिष्ठित परिवार के उत्तराधिकारी के रूप में प्रसाद जी थे। १७ वर्ष की आयु, वैभव और प्रतिष्ठा की महान परम्परा, कच्ची गृहस्थी, घर में न पिता, न माँ, न बड़ा भाई—एक मात्र अकेले पुरुष। आपदाओं का पहाड़ टूट पड़ा, अकेले प्रसाद जी पर अप्रत्याशित रूप से। घर में विधवा भाभी थीं। कच्ची गृहस्थी, सबका बोझ विधाता ने उनके सिर पर ला पटका। ऐसी ही दुर्दमनीय विपन्न स्थिति में कुटुम्बियों, परिवार के शुभेच्छुओं एवं सम्बन्धियों का षड्यन्त्र भी पूर्ण रूप से सम्पत्ति पर अधिकार करने के लिए चला। १७ वर्ष के एक युवक के सर पर ऐसी महान विपदाएँ, एक साथ आ पड़े और वह उन्हें सह लें, यह साधारण व्यक्तित्व का कार्य नहीं।

उन्होंने कठिनाइयों को देखा था, समझा था और उनसे उन्होंने समझौता

नहीं किया। जीवन और मरण जैसे प्रश्नों के रहते हुए भी वे अपने पथ पर बढ़ते रहे। बाधाओं से संघर्ष करते रहे। उन्हें पलायनवादी कहने वाले यह नहीं जानते थे, कितना क्लेष, कितना दुःख, कितनी वेदना, अपने कहे जानेवाले लोगों से उन्हें प्राप्त हुई। ऐसी अवस्था में यदि व्यक्ति गंभीर नहीं होता, उसका हृदय विशाल नहीं होता, यदि वह मुस्कान का मूल्य नहीं आंकता तो वह बड़ा आदमी नहीं हो सकता, भले ही और कुछ हो जाय। परिस्थितियों का प्रभाव उनके जीवन पर इतना प्रगाढ़ पड़ा कि जब कभी वे अपनी वाणी से किसी अपने मित्र से इन परिस्थितियों की चर्चा करते तो क्या स्थिति होती इसका निदर्शन पं० विनोद शंकर व्यास ने निम्नलिखित शब्दों में किया है "मुझसे जब कभी वह अपनी जीवन कहानी सुनाते, तो उनका चेहरा तमतमा उठता, आँखें भर आतीं और ललाट पर संसार की कठोरता की एक रेखा स्पष्ट खिंच जाती थी।"[1] इतना होने पर भी स्वाध्याय में, साहित्यिक जीवन के विकास में वे जुटे रहे। प्रायः लोग ऐसा कहते हैं कि प्रसाद जी अभ्यास करने वाले कवि थे। धीरे-धीरे उनके साहित्य में प्रौढ़ता आयी है। संभवतः वे लोग प्रसाद जी की उन परिस्थितियों को भुला देते हैं जिन परिस्थितियों में से प्रसाद को गुजरना पड़ा था। वे लोग यह भी भूल जाते हैं कि प्रसाद उस समय लिख सके, अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति ऐसी स्थिति में कर सके जब केवल रास्ते पर खड़ा होना भी साधारण कार्य नहीं। कितने लोगों को तो प्रोत्साहन और दुलार मिला, अच्छे वातावरण में पले थे अपने समय के महान साहित्य कार अपने गुरुओं द्वारा घोषित किये जाते थे पर आज भी प्रसाद जी की कीर्ति गाथा जिस गति से व्यापक होती जा रही है, वह प्रसाद के दृढ़ व्यक्तित्व का परिचायक है, जिसके गठन में नन्हकूसिंह जैसे चरित्र के निर्माण की क्षमता थी। ऐसी परिस्थिति में उनका खड़ा रहना ही कम महत्वपूर्ण नहीं होता। वे साहित्य के क्षेत्र में खड़े ही नहीं हुए, वह तो बराबर आगे ही बढ़ते रहे। ऐसी परिस्थिति में वे आगे बढ़े जब झंझा, झकोर, गर्जन, बिजली, नीरदमाला सब कुछ थी पर

---

(१) प्रसाद और उनका साहित्य, पृष्ठ ४।

उन्होंने तो अपने शून्य हृदय में दीपक जलाया था, वे खाराट में विचरण करने वाले साधक थे।

पूर्व इसके कि साहित्यिक जीवन की चर्चा की जाय यह भी लिख देना परम आवश्यक है कि घरेलू जीवन में उनके ऊपर क्या बीता। पहला विवाह उन्हें स्वयं करना पड़ा। दूसरा विवाह भी करना पड़ा। वे तीसरी शादी नहीं करना चाहते थे। दूसरी स्त्री की एक मात्र निशानी भी उसके साथ ही समाप्त हो चुकी थी। वह उससे प्रेम करते थे। घर तो वीरान पहले ही हो चुका था, मन भी वीरान हो गया। घर में विधवा भाभी का जीवन दुख की अनन्त रेखा की भांति उनके सामने प्रश्न चिह्न बना रहता था, अब वे शादी नहीं करना चाहते थे। पर भाभी का अनुरोध वे टाल न सके। मन की जलती हुई आग की उन्हें चिन्ता न थी। दुख और वेदना की आँधी में घिर कर भी उन्होंने अधिक उचित समझा कि अपनी भाभी के मन का मान रखें। अपनी भाभी के निर्देश पर गृहस्थी बसायें। घर का सूनापन उसके लिए खलने की वस्तु न रह जाय। उनके चरित्र की यह महत्ता केवल पूर्ण वैयक्तिक मात्र ही न रही।

समाज में जिन लोगों से उनका सम्पर्क हुआ, उनमें मुख्यतः साहित्यिक लोग ही हैं। बाबू शिवपूजन सहाय एक बार काशी आये। उस समय मैं इन्टर की कक्षा में पढ़ता था। पं० विनोदशंकर व्यास उनसे ज्ञानवापी वाली धर्मशाला में मिलने गये। भेंट न हुई। दूसरे दिन शिवपूजन बाबू से उनकी मुलाकात हुई। मैं भी साथ था। उस समय मुझे यह नहीं मालूम था कि प्रसाद जी, शिवपूजन सहाय, निराला जी आदि कितने बड़े आदमी हैं। शिवपूजन बाबू ने प्रसाद जी के घर जाने की बात कही। व्यास जी ने मुझे उनके साथ लगा दिया। उस समय तो बड़ा बुरा लगा। मस्ती पानी में खलल पड़ा। शिवपूजन बाबू से मुझसे क्या बातें हुई, मैं नहीं जानता। स्मरण नहीं है। शायद स्मरण रखने की कोई आवश्यकता भी मेरे लिये उस समय नहीं थी। किन्तु जब गोवर्धनसराय की गली में वे घूमे तो उन्होंने कहा कि मैं बनारस जब आता हूँ तो प्रसाद जी के मकान का दर्शन जरूर करता हूँ। वह मेरे लिये मंदिर है। वे प्रसाद जी के भवन तक गए। मंदिर की भाँति दर्शन किया, फिर वापस। मैंने

समझा यह पागलपन है, पर कुछ बोल नहीं सकता था क्योंकि व्यास जी ने शिवपूजन बाबू के सम्बन्ध में इतनी श्रद्धा मेरे मन में भर दी थी कि यही समझा कि कोई बहुत बड़े रहस्य की बात है। व्यासजी से मैंने लौटकर कहा भी कि यह क्या है, उन्होंने मुझसे कहा कि 'तू क्या समझबो।' जो साहित्यकार भी उनके सम्पर्क में आये उनके व्यक्तिगत स्वभाव से वे उनके स्नेही बन गए। प्रेमचन्दजी जैसे उनके साहित्य के विरोधी भी उनके साथ बेनिया बाग में प्रातःकाल रोज टहलते थे। अनेक मानं में उनसे भी निकट का संबंध था और यह संबंध जीवन-पर्यन्त बना रहा।

"प्रसाद जी के तीन नाटक" नामक भयंकर आलोचना-पुस्तक उनके मित्रों ने उनके व्यक्तित्व के प्रति षड्यन्त्र करके निकलवायी पर उन्होंने उसका कोई भी उत्तर न दिया, न देने दिया। अपने मित्रों के प्रति वे कितने उदार थे यह इसी से जाना जा सकता है कि श्री कृष्णदास के जरा-सा कहने पर उन्होंने क्या किया यह उनके द्वारा ही लिखित इस संस्मरण के इस अंश से प्रकट हो जाता है। "इन्हीं दिनों जयशंकर जी ने भी पहिले साधना को देखा। उन्होंने भी उसे बहुत पसन्द किया, केवल जबानी ही नहीं। एक दिन आये सुदामा की तरह कुछ छिपाए हुए। उसे बहुत छीना झपटी और हाँ नहीं के बाद बड़े हाव भाव से उन्होंने दिखलाया। उन दिनों उनकी ऐसी ही आदत थी कि अपनी रचनाएँ दिखाने में बड़ा तंग करते थे। वह एक साफ सुथरी छोटी-सी कापी थी, जिसमें बीस के लगभग गद्य गीत उनके लिखे हुए थे, मैंने कइयों को झांका, सुन्दर थे। एक में का संध्या वर्णन अभी तक नहीं भूला। किन्तु मैं उन दिनों बावला हो रहा था। मुझे अपनी शैली पर इतना ममत्व और आग्रह था कि जरा भी उदार नहीं होना चाहता था। मैंने छूटते ही कहा 'क्यों गुरु मुझी पर हाथ फेरना।' वे मेरी संकीर्णता पहचान गये। कई दिन बाद कोई मुनासिब बात कह कर उसे उठा ले गये और उन भावों में से कतिपय को छन्दबद्ध कर डाला। उनके झरना के प्रथम संस्करण का अधिकांश उन्हीं कविताओं का संकलन है।"[1] उनके साथ रहने वालों ने क्या लिखा है यदि यह जाना जाय तो उनके व्यक्तित्व

1—प्रसाद और उनका साहित्य, पृष्ठ ९।

का महत्व अपने आप ही प्रकट हो जायगा। श्री रामनाथ सुमन ने अपनी पुस्तक में यहाँ तक लिखा है कि जिसे देखकर एक बार आश्चर्य होता है किन्तु इसे मैं आश्चर्य नहीं मानता हूँ उनके व्यक्तित्व का प्रभाव मानता हूँ।

"मैंने जीवन में अनेक महात्माओं और महापुरुषों का साक्षात किया है, सार्वजनिक रूप से ज्ञात भी, और अज्ञात भी। इनमें तीन-चार तो अत्यन्त उच्च कोटि के योगी थे और उनकी अनासक्ति बड़ी ऊँची सीमा तक बढ़ी हुई थी। पर यह बात की जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और रस में डूबकर भी, जीवन की अतिव्याप्तियों से अलग रहना, और अपने लक्ष्य और आनन्द में सदा तन्मय रहना, मैंने अपने जीवन में केवल दो ही आदमियों में देखा है एक गांधीजी, दूसरे 'प्रसाद जी'। मैं जानता हूँ कि मैं बहुत बड़ी बात कह रहा हूँ, पर मैं उसकी जिम्मेदारी समझता हूँ। निस्सदेह इस वृत्ति का विकास दोनों में अलग-अलग ढंग पर हुआ है, दोनों की साधना और उस साधना की व्यापकता में भी भेद है, पर दोनों में प्रत्येक अवस्था में आनन्द प्राप्त कर सकने की क्षमता दिखाई देती है।"[1]

पं० रूपनारायण पाण्डेय ने उनके साथ रहकर उनमें जो गुण देखा उसका वर्णन वे इस प्रकार करते हैं; "पहली और सबसे बड़ी विशेषता उनमें यह देखी कि वह प्रत्येक सहृदय साहित्यिक के साथ असाधारण प्रेम का व्यवहार करते थे। आजकल के अनेक लेखकों की तरह वह किसी प्रतिस्पर्द्धी से ईर्षा न रखते थे। उन्होंने कभी किसी की निन्दा नहीं की उनके मुख से मैंने उस मनुष्य के प्रति भी कभी कोई बुरा मन्तव्य नहीं सुना, जो उन्हें बुरा कहता था या उनकी प्रतिभा का कायल न था। प्रसाद जी यथाशक्ति प्रत्येक साहित्यिक का सम्मान और सहायता करते थे। दूसरी विशेषता यह उनमें थी कि मैंने कभी उनको क्रोधित होते नहीं देखा। यहाँ तक कि उनको एक बंगाली नौकर के कारण यथेष्ट आर्थिक हानि उठानी पड़ी, परन्तु उन्होंने उसके लिये भी कभी कटूक्ति नहीं की। तीसरी विशेषता यह पाई कि उनमें अभिमान नहीं था। आज के

१—कवि प्रसादकी काव्य साधना, पृष्ठ २७८।

जमाने में ऐसी प्रकृति दुर्लभ ही है।"[1] ऐसा न केवल ये मानते हैं बल्कि प्रायः उन के सभी मित्र कहते हैं।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान तथा आलोचक पं० नन्ददुलारे वाजपेयी उनके सम्मानित मित्रों में से हैं, उन्होंने उनके व्यक्तित्व की जो झांकी देखी, उसका अवलोकन कम महत्वपूर्ण नहीं है। "जो कोई किसी की आशा करता है, वह अपने साथ प्रवंचना करता है। जो भविष्य पर आस्था रखता है, वह अपने अन्तःकरण की दुर्बलता प्रकट करता है। जो अपनी कृति पर अविश्वास करेगा, वही अपनी कीर्ति चाहेगा। जो अपनी करनी से प्रसन्न नहीं हैं, संसार में उसे कभी प्रसन्नता नसीब न होगी। बनारसी रंग से प्रसाद जी का एकमात्र यही आशय था, किन्तु मैं इसे समझना नहीं चाहता था। दुर्बलता तो मेरे अन्दर थी। मैंने प्रसाद जी का सदैव यही बनारसी रंग देखा। बाहर से उनका व्यक्तित्व देखकर कोई उनकी मुस्कान से मुग्ध होता, कोई उनकी व्यवहार-पटुता और मैत्री से मोहित होता; किन्तु उनके इस दिव्य, किन्तु मोहक वाह्य के भीतर जाकर अपनी ही कृति में आनन्द माननेवाले, कीर्ति की लिप्सा न रखनेवाले, भली बुरी समीक्षाओं से समान रूप से तटस्थ रहनेवाले निस्पृह तथा दिव्यतर प्रसाद जी को बहुत कम लोगों ने देखा। मैं जब उन्हें पहचानने के योग्य हो रहा था, इतने में वे स्वयं ही न रहे।"[2] यह पूर्व ही स्पष्ट किया जा चुका है कि बनारस की मस्ती, उसकी गम्भीरता उसकी महानता के प्रसाद जी प्रतीक थे।

प्रसाद जी को कुछ लोग पलायनवादी घोषित करते हैं। ऐसे लोगों को देखकर इसलिये आश्चर्य होता है कि अपनी कृतियों में उनके जीवन की और उनके पौरुष की वे प्रशंसा भी किया करते हैं। प्रसाद को कुछ लोग केवल भाग्यवादी ही समझते हैं। ऐसे लोग कवि के साथ अन्याय करते हैं। धीरे-धीरे भुलावा देकर ले चलने की बात जिन लोगों के मस्तिष्क में पलायनवाद और केवल भाग्यवाद के स्वर का उद्घोष कराती है, वे संभवतः ऐसे तन्तुओं से

१—प्रसाद जी और उनका साहित्य, दो बात, पृष्ठ १, २।

२—जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ ४६।

तने हैं जिन तन्तुओं से निर्जीव मशीन का निर्माण होता है। सबके जीवन में पीड़ा के बोल अपनी धुन सुना जाते है। उस धुन का आनन्द जो नही ले सकते वे कला और साहित्य के पारखी नही हो सकते। बहुत बड़े उत्पादक भले ही हो जायँ। पीड़ा को भुलाया देना अपौरुष का प्रतीक नही अपितु पुरुषत्व के विक्रम की पहली सीढ़ी है। उस व्यक्ति को कोरा नियतिवादी और पलायनवादी कहना उसके व्यक्तित्व के साथ अन्याय करना है, जिसने युग के सर्वश्रेष्ठ सत्ताधारी विद्वान पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी की परवाह नही की। 'सरस्वती' में अपनी रचनाएँ नही छपवाईं। विषम आर्थिक परिस्थिति में भी 'इन्दु' का प्रकाशन जिन्होंने किया, जिसका कुटिल पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसे व्यक्ति के चिढ़ का कारण बना। निरतर कष्ट सहने पर भी जिसने कभी आह नही की, जो अनेक झंझटो पर कभी कभी तिलमिला भर उठता था, जिसने काव्य के सभी प्रतिभा-सम्पन्न शिल्पियों से सदैव मैत्री का सम्बन्ध रक्खा, उनका नेतृत्व किया और महावीर प्रसाद द्विवेदी की भाव धारा से प्लावित लोगों को वास्तविक काव्य-चेतना का मार्ग ही नहीं दिखाया उन्हें चलने के लिये उसपर बाध्य भी किया, वह व्यक्ति पलायनवादी नही हो सकता।

जीवन में विषाद और पीड़ा के क्षण आते है। व्यक्ति को गरल पान करना पड़ता है, चाहा अनचाही हो जाती है, वैसी स्थिति में पीड़ा के स्वर यदि फूट पड़ते है, व्यक्ति के पाँव यदि कोलाहल से दूर भागना चाहते है, तो यह मृत्यु की निशानी नही, जीवन का प्रमाण है। उन्हे पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी का ही विरोध नही, सहन करना पड़ा अपितु प्रारम्भ में प्रेमचन्द्र जैसे लोग भी उनके साहित्य के विरोधी थे। पर उनके व्यक्तित्व ने सबको अपना बना लिया। यह पौरुषवान व्यक्तित्व की आभा का दीप्त प्रमाण है। उनकी जितनी आलोचना हुई, जितनी भर्त्सना हुई यदि आज के लोगों की होती तो वे साहित्य-रचना छोड़ देते और अनेक समर्थ कहे जानेवाले लोगों ने अपने द्वारा उठाए गए प्रश्नों पर व्यापक प्रतिक्रिया देख आज भी पीछे हट जाने में संकोच का अनुभव नही किया। पर प्रसाद जी का तो उद्देश्य सदैव से उस सीमा पर पहुँचना रहा जिसके आगे राह नहीं हुआ करती।

प्रसाद के समय आधुनिक हिन्दी के महान् निर्माता काशी में थे और उन सबके बीच रहकर उन्होंने ऐसे पथ का निर्माण किया जो काशी के गौरव के अनुरूप है और सबसे अलग, मौलिक भी।

प्रसाद जी के घर के सामने अपना शिव मंदिर था। शिव के वे भक्त थे। विश्वनाथ जी भी जाते थे। शैव आनन्द की अगम धारा में स्नान करने वाले वे दिव्य हृदय के व्यक्ति थे। उनका व्यक्तित्व इतना विशाल था कि अपने परिचय के सम्बन्ध में हंस के आत्मकथांक में प्रेमचन्दजी के विशेष आग्रह पर ही उन्होंने रचना दी। उसे देखना अप्रासंगिक न होगा। वह उनके जीवन-मर्म के उद्घाटन में सहायक होगीः—

मधुप गुन-गुनाकर कह जाता कौन कहानी यह अपनी
मुरझाकर गिर रहीं पत्तियाँ देखो कितनी आज घनी,
इस गम्भीर अनन्त नीलिमा से असंख्य जीवन इतिहास—
यह लो, करते ही रहते हैं, अपना व्यंग्य-मलिन उपहास
तब भी कहते हो, कह डालूँ दुर्बलता अपनी बीती।
तुम सुनकर सुख पाओगे, देखोगे—यह गागर रीती।
किन्तु कहीं ऐसा न हो कि तुम ही खाली करने वाले—
अपने को समझो, मेरा रस ले अपनी भरने वाले।
यह विडम्बना! अरी सरलते तेरी हँसी उड़ाऊँ मैं।
भूलें अपनी या प्रवञ्चना औरों की दिखलाऊँ मैं।
उज्वल गाथा कैसे गाऊँ मधुर चाँदनी रातों की।
अरे खिलखिलाकर हँसते होने वाली उन बातों की।
मिला कहाँ वह सुख जिसको मैं स्वप्न देखकर जाग गया।
आलिंगन में आते-आते मुसका कर जो भाग गया।
जिसके अरुण कपोलों की मतवाली सुन्दर छाया में।
अनुरागिणी उषा लेती थी निज सुहाग मधुमाया में।
उसकी स्मृति पाथेय बनी है थके पथिक के पन्था की।

सीवन को उधेड़ कर देखोगे क्यों मेरी कन्था की ?
छोटे से जीवन की कैसे बड़ी कथायें आज कहूँ ?
क्या यह अच्छा नहीं कि औरों की सुनता मैं मौन रहूँ।
सुनकर क्या तुम भला करोगे मेरी भोली आत्म-कथा ?
अभी समय मैं नहीं, थकी सोई है मेरी मौन व्यथा।
(लहर से)

जीवन में चतुर्दिक विडम्बना से घिरे व्यक्ति के लिये आनन्द का मूल्य संभवतः सबसे बड़ा होता है। प्रसाद जी ने काव्य में सर्वत्र आनन्द की उपलब्धि को ही अपना चरम साध्य माना। उनके जीवन की भाँति युग भी चतुर्दिक अक्रान्त था, वेदना से, पीड़ा से और अपनी आकुल परिस्थितियों से। जीवन के मध्याह्न में उनके ऊपर ऋण का भार बढ़ गया था और अपने व्यापार की ओर भी उन्होंने ध्यान दिया, किन्तु साहित्य से वह विरक्त नहीं हुए।

उनका जीवन इस बात का साक्षी है कि दूसरे विचारों के साहित्यकारों का आदर ये करते थे। उनके यहाँ सभी विचारों के साहित्यकार एकत्र होते थे। स्वास्थ का भी वे ध्यान रखते थे। लोगों को यह आश्चर्य लगता था कि वह कब और किस तरह लिखते हैं, किस तरह बाधाओं के सर पर पग धर कर साहित्य का निर्माण करते हैं।

अवरोधों का ताँता उनके सम्मुख था। इन अवरोधों के बीच उन्होंने चतुर्दिक निष्ठा के साथ कार्य किया और जिस क्षेत्र में उन्होंने चरण रखा वहाँ अपना स्थायी प्रभाव छोड़ दिया। यह उस वातावरण की देन है जिस वातावरण तथा संस्कार की गोद में प्रसाद का निर्माण हुआ, खाये, खेले, कूदे, पनपे और बड़े हुए थे। कुछ लोगों के भीतर प्रसाद जी के सम्बन्ध में अनेक भ्रम उनके मित्रों ने फैलाया है, और सबसे बड़ा भ्रम यह है—कि वह समाज भीरु थे। समाज में अपने को मिलाना नहीं चाहते थे। संभवतः बहुत बड़े पैमाने पर ऐसी बात मानना उनके साथ अन्याय करना होगा। उन्होंने अपनी एक सामाजिक सृष्टि बना ली थी जिसमें सभी प्रकार के लोग थे। व्यापारी से लेकर साहित्य के साधक

तक, नाऊ से लेकर पंडित तक। समाज का दृश्य तो उनके सामने रहता था। यदि उसे वह न देखे होते तो सम्भवतः ऐसी देन न दे जाते जैसी उनकी मानी जाती है। उनका हृदय जब बोलता है तो किसी के अन्तर की वाणी बनकर बोलता है। अन्तर का यह दर्शन वे लोग नहीं कर सकते जो भीड़ में घेर लिए जाते हैं या घिर जाते हैं। वहाँ तो धक्कम-धक्का ही हाथ लगता है। मित्रों के बीच में वह खुलकर हँसते थे। परन्तु सामाजिक मान-अपमान एवं मर्यादा का वे ध्यान रखते थे। कहना न होगा कि प्रसाद जी ने नोबुल पुरस्कार विजेता नागूची के रवीन्द्रबाबू के यहाँ कलकत्ते आने पर प्रेमचन्द्र से स्पष्ट ही कहा था कि यदि नागूची रवीन्द्र बाबू से मिलने कलकत्ता आ सकते हैं तो काशी में प्रेम-चन्द जी से भी मिलने आ सकते है। यही नहीं दिल्ली के रंगबाज साहित्यिक उनकी नारियल बाजार वाली दूकान पर एक दिन उनसे मिलने आये। उनको आज भी अपने साहित्य पर बड़ा गरूर है, गर्व है, अभिमान है। ये नित्य प्रति जहर खाते हैं—ऐसा उनका कहना है। उन्होंने नारियल बाजार वाली दूकान पर प्रसाद जी से कहला भेजा कि थोड़ी दूर इधर में खड़ा हूँ। प्रसाद जी जरा आकर मुझसे मिल लें। मैं कुछ बातें करना चाहता हूँ। प्रसाद जी ने संदेशवाहक से काशिका में कहला भेजा कि अगर मिलना हो तो यहीं आ जायँ।[१] यह संस्मरण उनके उस सामाजिकता का प्रतीक है जो समाज में रहने वाले व्यक्ति के लिये जरूरी है। कुछ लोग इसे आत्माभिमान मान सकते हैं किन्तु प्रसाद ने सदैव आत्माभिमान उन्हीं को दिखाया जो अपने को कुछ समझते तथा बनते थे। यह काशी के वातावरण के गठन का प्रतिफल है। अपने मित्रों के भीतर प्रायः उन्होंने ऐसी बात नहीं की। हाँ जब किसी बात को वे मन में दृढ़ता पूर्वक ठीक समझ लेते तो उससे विचलित भी नहीं होते थे। कहना न होगा कि सभी तैयारी पूरी हो जाने पर भी जब जीवन के अन्तिम समय में क्षय से आक्रान्त हुए तो राय साहब के बगीचे में नहीं गए। न जाने का कारण जो रहा हो, कुछ लोगों ने इसे नियतिवाद बताकर समाप्त किया है। किन्तु नियति का जितना स्थान है उतना प्रसाद जी मानते थे न कि हाथ पर हाथ रख भाग्य पर सब कुछ छोड़

१—पं० शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' काशिकेय की वार्त्ता पर आधृत।

दें। जीवन के अन्तिम दिनों में रोग ने उनपर चढ़ाई की। यक्ष्मा से वे पीड़ित हुए। यक्ष्मा को उन्होंने जीवन भी दे दिया और ४८ वर्ष की अवस्था में समाज से चल बसे। किन्तु इतनी छोटी आयु में उनके व्यक्तित्व ने जिस साहित्यिक एवं सांस्कृतिक निर्माण का कार्य किया है वह निश्चय ही अत्यन्त गौरवशाली है तथा उनके उस कृतित्व का आख्यान करता है जिस कृतित्व का गौरव खड़ीबोली के साथ ही संस्थापित रहेगा, इसमें दो मत नहीं हैं। वे सभा सोसाइटियों में तो न जाते थे, किन्तु सम्मेलन की संस्थापना के आयोजन कर्ताओं में से एक थे। सभा के उन्नयन और विकास के वे सक्रिय सहयोगी थे। उन्हें काम से मतलब था, नाम से नहीं। भारत की साधना-परम्परा इस बात की साक्षी है कि जितने महान् व्यक्ति होते हैं वे अपने नाम के नहीं अपने काम के दीवाने होते हैं। तुलसी, सूर, मीराँ, सबने सामाजिक निर्माण किया है, सांस्कृतिक उत्थान किया है किन्तु राजनीतिक प्रचारकों की भाँति कहीं भी तो अपने गौरव का आख्यान नहीं किया है। प्रसाद जी उसी मूल संस्कार के समर्थक, पोषक, मात्र नहीं थे अपितु उसी साधना-प्रणाली के नये युग के अनुकूल प्रवर्तक थे। दूसरा भ्रम प्रसाद जी के सम्बन्ध में यह है कि वह बहुत सम्पन्न व्यक्ति थे, जैसे आज के पूँजीपति हुआ करते हैं, विलासी स्वभाव के। यह भ्रम बिना दूर किए हुए उनके साहित्य की वास्तविकता नहीं समझी जा सकती। वे रईस तो जरूर थे, किन्तु कर्मठ भी थे। रईस का अर्थ विलासी लगाना उनके साथ अन्याय करना होगा। उनका रहन-सहन किसी नवाब की तरह नहीं, मध्यवर्ग के उच्च परिवारों की भाँति था। अच्छा खाना-पीना और पहनना विलासता नहीं है अर्थशास्त्र के एक विद्यार्थी के नाते में यह कह सकता हूँ और डंके की चोट कहता हूँ कि प्रसाद के लिए वह आवश्यक आवश्यकता थी। विलासी ऋण बोझ से दबने पर चिन्तित नहीं होता, वह अपना समाधान अपनी सम्पत्ति को स्वाहा कर अपने जीवन-काल के लिये ढूँढ़ लेता है। विलासी के सामने अपना जीवन होता है, उसे मजा चाहिये अपने लिये, औरों से उसे कोई नाता नहीं। नाता उतने ही तक उसे होता है जितने तक वह औरों को विलासिता का उपादान बना सके। किन्तु प्रसाद ने जब कभी किसी पर कोई आपदा देखी अपने पर या अपने मित्रों पर तो सबके लिये चिन्तित हुए।

भला ही किया लोगों का। यदि वह विलासी होते तो ऐसा कभी न करते, वह आनन्द लेते।

तीसरी बात उनके सम्बन्ध में यह कही जाती है कि वे महान् कूटनीतिज्ञ थे। उनकी कूटनीति इतनी सूक्ष्म हुआ करती थी कि लोगों को उसका पता तक नहीं हुआ करता था। कूटनीतिज्ञ होना और ऐसी परिस्थिति में कूटनीतिज्ञ होना, जब चतुर्दिक संघर्ष मचा हो, पौरुष की निशानी है यह चरित्र की बुराई नहीं। अपने देश में कूटनीति की साधना बड़ी प्राचीन है। राम, कृष्ण, और बुद्ध तक से उसका संबंध जुड़ा हुआ है। और दुष्चक्र युक्त राजनीतिक युग में कूटनीतिक सफलता सबसे बड़ी सफलता है। यदि प्रसाद जी कूटनीतिज्ञ थे तो कोई बुरी बात नहीं थी। उनका गुण ही था।

मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि संसार के सारे गुण प्रसाद जी में आ गए थे। यदि ऐसा होता तो वे पूर्णावतार न हो जाते। किन्तु वे मनुष्य थे। प्रसादजी की अपनी कमजोरियाँ थीं, किन्तु उन कमजोरियों पर एक तपस्वी व्यक्ति की भाँति, एक साधक की भांति उन्होंने सदैव ही विजय पाने का प्रयत्न किया। प्रारम्भ से अन्त तक जीवन भर उन्होंने संघर्ष किया। आन्तरिक संघर्ष समर के संघर्ष से अधिक भयंकर होता है। उस भयंकर संघर्ष में वे उद्विग्न हुए हैं, कभी-कभी कराह से पथ का उद्देश्य भी भूल गए हैं किन्तु मैदान से कभी हटे नहीं। दुःखों की नश्वरता जब सचेत हो उनके भीतर जगी तो पुनः वे जागे और उन्होंने अपना रास्ता स्वयं बनाया, यह उनके व्यक्तिगत चरित्र की विशेषता थी।

वह साहित्य को जीवन की साधना माननेवाले व्यक्ति थे। उन्होंने साहित्य की रचना को कभी भी आर्थिक आय का साधन नहीं बनाया। किसी पत्र-पत्रिका से एक पैसा भी उन्होंने नहीं लिया। काशी नागरी प्रचारिणी सभा तथा हिन्दुस्तानी एकेडेमी से मिले पुरस्कारों को उन्होंने सभा को दे दिया। उनकी पुस्तकों के प्रकाशक भारती भंडार हैं। उसके मैनेजर पं० वाचस्पति त्रिपाठी ने अखिल भारतीय आकाशवाणी से उनके सम्बन्ध में अपनी वार्ता में कहा कि:—

"प्रसाद जी के लिखने में स्वान्तःसुखाय मूलमंत्र था। वे अपने साहित्य को अपने बुरे से बुरे समय में भी अर्थ प्राप्ति का साधन नहीं बनाना चाहते थे। फिर भी कभी कभी अपने ही साहित्य-देव की कृपा से अर्थ खिंचा चला आता था। ऐसे आए हुए अनाहूत अतिथि को किसी दूसरे को सौंपकर ही उन्हें चैन मिलता था। उन्होंने अपने अनेक पुस्तक के प्रकाशकों से कोई रायल्टी नहीं ली। अपने जीवनकाल में मिली रायल्टी की रकम भी उन्होंने अपने निजी काम में खर्च नहीं की। उन्होंने अपने प्रकाशक को आज्ञा दे रखी थी कि उसकी कोई पुस्तक किसी पुरस्कार प्रतियोगिता में न भेजी जाय। इसी के परिणाम स्वरूप हिन्दी साहित्य सम्मेलन को यह नियम बनाना पड़ा कि 'कामायनी' खरीद कर ही प्रतियोगिता में भेजी जाय। खड़ी बोली का वह सर्व प्रथम काव्य था जिस पर मंगला प्रसाद पारितोषिक प्राप्त हुआ।"

जिस समय वह काशी में साहित्य सर्जन के लिये उद्यत हुए और अपना प्रयोग आरम्भ किया तथा उनके जीवन भर काशी में ऐसे साहित्यकार वर्तमान थे जिन्होंने अपनी कृतियों द्वारा साहित्य के इतिहास में नई चेतना जगाने का कार्य किया है। उनके बीच में रहकर वह उनसे प्रभावित न हुए, यह उनके महान् व्यक्तित्व का परिचायक है। कहना न होगा कि उस समय काशी में सभी साहित्यकार मौलिक व्यक्तित्व वाले थे। बाबू श्यामसुन्दर दास हिन्दी को उच्च स्तर पर ले जाने के लिये साहित्य और साहित्यकारों का निर्माण कर रहे थे किन्तु उनका क्षेत्र आलोचना मात्र था। हरिऔध जी भी थे, कवि, आलोचक, लेखक उपन्यासकार। पर विशेष रूप से उनकी प्रतिष्ठा कवि के रूप में ही थी। उनकी कविता उपदेशात्मक नक्काशबाजी वाली थी। यद्यपि थी अच्छी। रत्नाकर ब्रज भाषा के समर्थ महान् कवि थे पर युग उन्हें पीछे छोड़ चुका था। प्रेमचन्द जन-जीवन के कलाकार की भांति, जिसमें सबल प्रचारक का स्वर कमजोर नहीं था, हिन्दी के कथा साहित्य का निर्माण कर रहे थे। गोस्वामी किशोरीलाल रसमय होकर मन को मोहनेवाली कथायें गढ़ रहे थे। जासूसी और ऐयारी कथाओं के स्रष्टा गण भी विद्यमान थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल शास्त्रीय समीक्षा दे रहे थे। रायकृष्णदास कहानियाँ और गद्यगीत लिख रहे थे। उग्र की चतुर्मुखी

प्रतिभा लोगों को आकर्षित कर रही थी। पंडित शान्तिप्रिय कविता और आलोचना लिख रहे थे। श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड़, अन्नपूर्णानन्द जी आदि लोगों को हँसा रहे थे। पं० विनोदशंकर व्यास छोटी-छोटी कहानियाँ लिख रहे थे। ऐसी स्थिति में काशी में उनके जीवन-काल में सभी प्रतिभाएँ, जो चमक रहीं थीं, अपनी विचित्रता लिए हुए थीं तथा उनमें से कुछ की ऊँचाई तो आज भी अपने स्थान पर सबसे ऊँची है। ऐसी परिस्थिति में सभी क्षेत्रों में उन्होंने प्रायः अपनी देन दी। जो अपने स्थान पर आज भी प्रतिष्ठित में तथा अपूर्व है।

कथा के क्षेत्र में वे हिन्दी के द्वितीय उत्थान के प्रथम कहानीकार ठहरते हैं। गद्य में लिखित उनकी कृतियों में स्थल-स्थल पर जो काव्यमय झंकार है वह किसी के गद्य-गीतों में नहीं मिलती। कविता के क्षेत्र में वे हरिऔध के बहुत आगे हैं। ऊँचाई व्यापकता सभी दृष्टियों से। जहाँ तक निबन्धों का प्रश्न है, शुक्ल जी के निबन्ध हिन्दी में सर्वाधिक गौरवशाली हैं, किन्तु प्रसाद जी के जो निबन्ध प्रकाशित हुए उनका भी अपना मौलिक गौरव है। वे उनके काव्य की अच्छी भूमिका कहे जा सकते हैं। खोज सम्बन्धी उनके निबन्ध भी परम उत्कृष्ट हैं। उनकी व्याख्या-प्रणाली साहित्यिक एवं शास्त्रीय दोनों के सम्मेलन से साकार हुई है। उपन्यास के क्षेत्रमें वे प्रथम यथार्थवादी उपन्यासकार हैं। कंकाल उसका जीवित प्रमाण है। नाटक के क्षेत्र में उनका गौरव सर्वाधिक दीप्त है। कवि के रूप में वे क्या हैं इसका वर्णन तो इस पुस्तक का विषय ही है। इस प्रकार उन्होंने अपने अपने वातावरण से लिया और दिया भी।

वे भारतेन्दु की काव्य-धारा से परिचित थे। द्विवेदी जी के काव्य सिद्धान्तों को अपने सामने देखा था। दोनों की अच्छाइयों और बुराइयों की परख उन्होंने की थी। केवल वे केशर-कस्तूरी के पारखी नहीं थे, हृदय और मन के भी पारखी तथा जीवन और जगत के द्रष्टा भी। वे भारत की मूल सांस्कृतिक भाव धारा से अवगत थे। उन संस्कारों को अपने व्यक्तित्व के द्वारा उन्होंने नये युग के अनुरूप रचा जो अत्यन्त गौरवशाली है।

—— —:o:— —

[३]

कहानी और हिन्दी साहित्य

परस्पर भावाभिव्यक्ति की प्रणालियों में भाषाभिव्यक्ति अन्य माध्यमों से कम प्राचीन न ठहरेगी। अभिव्यक्ति की यह मौखिक परम्परा उसी दिन आरम्भ हो गयी थी, जिस दिन भौतिक जगत में मानव का पहला योग हुआ था। योग का यहाँ अर्थ सिद्धों और संतोंवाले 'योग' से नहीं, अपितु उस योग से है, जो दो हृदयों को एक सूत्र में आबद्ध करता है। अर्थशास्त्री इस योग का मूल कारण भौतिक आवश्यकताओं को घोषित करेगा, भौतिक विज्ञान पर विश्वास रखने वाले प्राणी के क्रम-विकास को इसका आधार बतायेंगे, धर्मशास्त्री इसे नटराज की लीला बतायेंगे, ज्योतिषी इसे नक्षत्रों का प्रभाव कहेंगे, समाज-शास्त्री भी अपने पक्ष की बात कहेंगे। आकर्षण के मूल में सबकी बातें उसी प्रकार विलीन हो प्रकाशवती होती हैं, जिस प्रकार सूर्य की किरणों में सात रंगों की आभा। आकर्षण प्रतिदान का जनक है। प्रतिदान समर्पण से सिंचित हो, फूलता है। उसके मूल में मनोभाव के फल लगते हैं। मनोभावों की अभिव्यक्ति संयोग की दुहिता होती है। प्रतीक उसके बीज हुआ करते हैं। प्रतीक स्थूल से निरंतर सूक्ष्म होते गये हैं। यह विकास गति की कहानी स्वयं गढ़ता गया है। इस सर्जन-क्रिया में व्यक्ति के भीतर आकर्षण के प्रति उत्पन्न व्यामोह को प्रकट करने का स्वर रहता है। यह स्वर साहित्य के जिस रूप में भी मुखरित होता है, वहाँ कहानी अपने आप प्रकट हो जाती है। साहित्य की अभिव्यक्ति का माध्यम मान्य प्रतीकों की वाणी रही है। जब वाणी ने चिह्न-प्रतीकों में अपने मौन को स्वर किया, तभी से कहानी की परम्परा का आरम्भ माना जायगा। भाषा शास्त्री इस परम्परा को १०,००० वर्ष से कम प्राचीन नहीं ठहराते। अतएव कहानी का जन्म भी इससे कम प्राचीन नहीं है।

विश्व में कोई भी निरर्थक वस्तु अपना अस्तित्व स्थायी नहीं रख सकती, यदि उसकी उपयोगिता स्थायी न हो। भले ही वह उपयोगिता मन से सम्बन्धित हो, एक व्यक्ति से सम्बन्धित हो, समष्टि से सम्बन्धित हो, लोक से सम्बन्धित हो, पर अस्तित्व उपयोगिता के स्थायित्व पर अपना जीवन-काल निर्मित करता है। कहानी की भी उपयोगिता मन से लेकर समाज के अभ्युदय, और लोक-सिद्धि के लिए सदैव से रही है, अन्यथा वह भी विलीन हो गयी होती। मानव-जीवन जड़ नहीं है, अपितु उनके विकास की भागीरथी निरंतर प्रवाहमान है। अभी अवसान के महासागर से उनका सम्मिलन नहीं हुआ है। जब तक कालसागर में लोक-जीवन विलीन नहीं हो जाता, तब तक बहाव की धारा निरंतर परिवर्तित होती रहेगी। धरती के अनुसार, धारा को गति तथा नदी का विस्तार होगा। यही बात साहित्य के किसी भी रूप के सम्बन्ध में कही जा सकती है। साहित्य हृदय का धर्म है, मन की वाणी है। धारण करने और कराने की उसकी क्षमता उसके जीवन के मूल में है। जहाँ धारणा-शक्ति होती है, वहाँ उपयोगिता स्वयंभूत होती है। यह उपयोगिता विविध परिधान धारण कर युग के अनुसार प्रकट होती है। काल के अनुसार परिधानों का परिवर्तन निरंतर होता रहता है। यही बात कहानी के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

विश्व के प्राचीन साहित्यों में भारतीय साहित्य सर्वाधिक पुरातन है। ऋग्वेद, उपनिषद्, सांख्य, पंचतंत्र, नदीसूत्र और जातक, सभी में गूढ़ जीवन-दर्शन को धारण कर दूसरों पर अभिव्यक्त करने के लिए, मानस योग की स्थापना के लिए, संयोग की साधना के लिए, गूढ़तम सिद्धान्त सहज सरल ढंग से अभिव्यक्त किये गये हैं। बाद में ये अभिव्यक्तियाँ सत्य दर्शन की कोटि में प्रतिष्ठित हुईं। उनके मूल में उद्भावक की संयोग-कामना की सिद्ध चेतना है। ये आख्यान और आख्यायिकाएँ उद्देश्य-पूर्ति के लिए राजपथ प्रमाणित हुई थीं। यूनान, रोम, मिश्र, चीन सभी प्राचीन सांस्कृतिक देशों में ऐसी उद्देश्य प्रतिष्ठापक कहानियाँ बराबर मिलती हैं। जिन देशों में नये धर्मों की स्थापना हुई, वहाँ भी ऐसी कहानियाँ मिलती हैं। कहानियों का यह विकास-क्रम युग-जीवन के साथ परिवर्तित होता गया और आज कहानी युग के अनुरूप नया वेष धारण कर

हमारे सम्मुख खड़ी है। यहाँ यह बात भूलने की नहीं है कि आज की कहानियाँ प्राचीन कहानियों से सर्वथा भिन्न हैं।

शिल्प की दृष्टि से प्राचीन कहानियों में कुतूहल एवं औत्सुक्य की रक्षा के लिए मानवेतर उपकरणों का सहारा लिया जाता था। आज की कहानी उन्हें बहुत पीछे छोड़ चुकी है। ऐसे उपकरणों से कहानी में चमत्कार अवश्य आ जाता था, किन्तु वह जीवन से अत्यधिक दूर हो जाती थी। बात यह थी कि जीवन की प्रिय वस्तु होते हुए भी प्राचीन कथाकारों ने कहानी को जीवन से दूर ही रखा था। उनकी कहानी के मूल में आदर्श-स्थापना की लालसा रहती थी। 'पंचतन्त्र' तथा 'हितोपदेश' की पशु-पक्षियों की कहानियों का प्रतिपाद्य भी कोई न कोई आदर्श ही होता था, किन्तु जीवन का प्रतिपाद्य सर्वदा आदर्श ही नहीं होता—भले ही उसकी गति आदर्श की ओर उन्मुख हो। इसीसे कहानियों का आरम्भ प्रायः 'एक था राजा' से और अन्त 'भगवान ने जैसे उसके दिन फेरे, तैसे सबके दिन फिरें' से होता था।

प्राचीन कहानी का उद्देश्य जीवन का चित्र प्रस्तुत करना नहीं, वरन् चमत्कार उत्पन्न कर तथा जिज्ञासा जगा सम्पूर्ण समाज के कल्याण साधन सूत्र बताना था। आज कहानी का यह उद्देश्य नहीं रहा। वह राजा और रानियों के जीवन तक ही नहीं रही, जन साधारण के जीवन का चित्र भी कहानियों में व्याप्त हुआ। प्राचीन कहानियों में अनेक उपकहानियाँ रहती थीं, आज की कहानियाँ ऐसी नहीं होतीं। आज वे पहले से अधिक मनोवैज्ञानिक तथा मानवीय हैं। जीवन के सम्पर्क से ही वे जीवन पा जीवित हैं।

विभिन्न पश्चिमी विद्वानों ने कहानी के सम्बन्ध में अपनी भावना इस प्रकार व्यक्त की है।

"कहानी में घटनाओं के विवरण और सक्रियता के साथ-साथ एक ऐसा आशातीत वेगवान विकास दिखाया जाना चाहिये, जो हमारी जिज्ञासा-वृत्ति को स्थिर रखते हुए चरम बिन्दु को स्पर्श कर एक सन्तोषमूलक पर्यवसति तक पहुँच जाय।"

ह्य वेल शेल

"समस्त रचना में एक भी शब्द ऐसा नहीं होना चाहिये जिसकी प्रवृत्ति प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष किसी भी रूप में पूर्व निश्चित बातों से भिन्न हो।"

—पो

"कोई भी लघु कथात्मक अंश, जो सरलता से बीस मिनट में पढ़ी जा सके, कहानी कही जा सकती है।"

—वेल्स

"कहानी में सामान्य से सामान्य बातों का वर्णन हो सकता है, जैसे सेमिनोविच ने किस प्रकार मेरिया से विवाह किया, केवल इतना ही।"

—चेखव

"कहानी एक घुड़दौड़ के समान होती है। जिस प्रकार दौड़ का आदि और अन्त विशेष महत्व का होता है, उसी प्रकार छोटी कहानी में भी केवल यह जानना अपेक्षित होता है कि वह कहाँ से आरम्भ हुई और कहाँ पर समाप्त।"

—एलरी

विभिन्न शिल्पियों द्वारा की गयी ये परिव्याख्याएँ अपूर्ण हैं। वास्तव में कहानी की परिभाषा करना सहज नहीं है। परिभाषा उस वस्तु की जा सकती है जिसका विकास रुक गया हो। तो भी गद्य में एकान्वित प्रभाववाली कथात्मक भावाभिव्यक्ति को कहानी मानना अनुचित न होगा, भले ही अभिव्यक्ति संकेतात्मक, भावात्मक, चरितात्मक, व्याख्यात्मक अथवा प्रतीकात्मक हो।

कहानी के शरीर-गठन में कथावस्तु, चरित्र चित्रण, कथोपकथन, देश-काल, भाषा, शैली और उद्देश्य विभिन्न अंग के रूप में स्मरण किये जाते हैं। पर यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक कहानी में सभी तत्व एक साथ वर्तमान रहें। इन तथ्यों में भाषा और कथावस्तु मात्र अनिवार्य हैं। ये दोनों प्रत्येक प्रकार की कहानी में मिलेंगे ही। शेष तत्वों का संतुलित योग कहानी को श्रेष्ठ बनाने में सहायक होता है। कभी-कभी तत्व विशेष की आकर्षक अभिव्यक्ति कहानी में उसी प्रकार आकर्षण उत्पन्न कर देती है, जिस प्रकार अंग विशेष का सौन्दर्य प्रदर्शन। पूर्ण सौन्दर्य-प्रतिष्ठा के लिए संतुलित अंग सौंदर्य की समवेत आभापूर्ण रचना आवश्यक है, यह बात यहाँ भी स्मरणीय है। कहानी के इन तत्वों पर अब अलग-अलग विचार करना अप्रासंगिक न होगा।

कथा वस्तु को निम्नलिखित भागों में विभक्त किया जा सकता है।

(१) शीर्षक

(२) प्रस्तावना

(३) मुख्यांश

(४) चरम बिन्दु

(५। अन्त

शीर्षक वाली कहानियाँ लोग सामान्यतः लिखते हैं, किन्तु ऐसी भी कहानियाँ दीख पड़ी हैं, जिनमें शीर्षक लोग नहीं लगाते। बिना शीर्षक की कहानियाँ लोगों के भीतर कथा के प्रति जहाँ कुतूहलजन्य गोपन सम्बन्ध स्थापित करने में सहायक होती हैं, वहीं वे इस बात का भी प्रमाण हैं कि लेखक पाठक को अपनी शिल्प-क्षमता का ज्ञान नहीं होने देना चाहता। शीर्षक उसी प्रकार का कार्य करते हैं जिस प्रकार का कार्य परिचय-पट करते हैं। कहानी का शीर्षक कुतूहल जाग्रत करने वाला होना चाहिये तथा कथावस्तु से उसका संयोग भी होना चाहिये। यह संयोग शीर्षक की श्रेष्ठता का परिचायक है, यदि जिज्ञासा भी जगा सगे।

कहानी का आरम्भ जिस भी प्रणाली पर हो वह चुम्बक की तरह अपनी ओर खींचने वाला होना चाहिये। लेखक की बहुत बड़ी सफलता आरम्भ पर निर्भर करती है।

ज्यों-ज्यों कहानी का विकास पाठक के सामने आता जाय त्यों-त्यों कहानी से पाठक तादात्म्य स्थापित करता जाय, यह कहानी की बहुत बड़ी विशेषता है। तादात्म्य स्थापन-क्रिया के लिए देश काल, और वार्तालाप का गठन ऐसा होना चाहिये कि प्रस्तुत कथानक को पाठक उसी प्रकार सत्य मान बैठे जिस प्रकार छोटा बच्चा नानी की कहानियों को मान लेता है। यहाँ भाषा और शैली की ध्वन्यात्मक अवतारणा और प्रभावपूर्ण शैली की आवश्यकता पड़ती है। देश-काल तथा चरित्र के सन्तुलित प्रभाव की तादात्म्यमूलक वास्तविक प्रतिष्ठा कहानी को श्रेष्ठ बनाने में सहायक होती है, साथ ही कथोपकथन की सहज जीवन प्रतिष्ठित अभिव्यक्ति भी आवश्यक होती है।

मुख्यांश के बाद कहानी एकाएक मोड़ लेती है और एकान्वित प्रभाव उत्पन्न करने की दिशा में उन्मुख होती है। यहाँ पर मर्म की व्याख्या जितनी प्रभावशाली हो सकेगी, पाठक उतना ही अधिक कहानी से प्रभावित होगा। उसकी छाप की स्याही से ही पाठक का मन रँग पाता है। यह रंजनवृत्ति जितनी ही जीवन्त होगी, कहानी का प्रभाव भी उतना ही व्यापक होगा।

वास्तव में कथा-शरीर के शिल्प-गठन में अपेक्षित सन्तुलित अंग रचना ही कहानी की श्रेष्ठता का वाह्य रूप प्रतिष्ठित करती है।

कहानियों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है। कोई इनका वर्गीकरण भावानुसार करता है, कोई चरित्र के अनुसार, कोई उद्देश्यों के अनुसार, कोई परिणाम के अनुसार, कोई रस के अनुसार, कोई चित्र और चरित्र के अनुसार और कोई घटना या प्रतीक के अनुसार। शैली के अनुसार भी कहानियों का वर्गीकरण लोग करते हैं। यदि इन सभी वर्गीकरणों की सूची बनायी जाय तो बहुत लम्बी विस्तृत अनावश्यक सूची तैयार हो जायेगी, जैसे कथा प्रधान कहानियाँ, चरित्र प्रधान कहानियाँ, घटना प्रधान कहानियाँ, कार्य प्रधान कहानियाँ, वातावरण प्रधान कहानियाँ, प्रभाव प्रधान कहानियाँ, हास्य कहानियाँ, ऐतिहासिक कहानियाँ, प्रकृतवादी कहानियाँ, प्रतीकवादी कहानियाँ, वैज्ञानिक कहानियाँ, यथार्थवादी कहानियाँ, आदर्शवादी कहानियाँ, घटना प्रधान कहानियाँ जासूसी कहानियाँ, मनोवैज्ञानिक कहानियाँ, बाल कहानियाँ, राजनीतिक कहानियाँ, वर्गवादी कहानियाँ, अपराध की कहानियाँ, प्रेम कहानियाँ, डायरी कहानियाँ, धार्मिक कहानियाँ, पुरातत्व की कहानियाँ, सम्वादात्मक कहानियाँ, पौराणिक कहानियाँ, आदि। वर्गों और उपवर्गों की यह संख्या और भी विस्तृत की जा सकती है। ऐसा करना उचित नहीं, कहानियाँ मूलतः दो वर्गों में बाँटी जानी चाहिये और वे वर्ग हैं:—

१—उद्देश्य मूलक कहानियाँ
२—भावनामूलक कहानियाँ

जब किसी उद्देश्य विशेष की प्रतिष्ठा के लिए कहानी की रचना की जाती

है तो कथानक का समस्त ढाँचा उद्देश्य की प्रतिष्ठा की सिद्धि के लिए निर्मित होता है। ऐसी कहानियाँ ज्ञान, धर्म, राजनीति, संस्कार, मनोरंजन, समाचार पत्र की आवश्यकता, पैसा प्राप्ति आदि किसी भी उद्देश्य की पूर्ति के लिए लिखी जा सकती हैं। विषय और उद्देश्य के अनुसार कहानी का ढाँचा लेखक स्वयं बना लेता है।

भावनामूलक कहानियाँ मूलतः उन भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए लिखी जाती हैं, जो भावनाएँ लेखक पर ऐसा प्रभाव डाल देती हैं जिनका उच्छ्वास गीतों की भाँति फूट पड़ता है तथा मर्म के ऐसे चित्र और चरित्र से पाठक को परिचित कराये बिना लेखक को संतोष नहीं होता।

कहानी के तत्वों पर विचार करने से पता चलता है कि कहानी तथा उपन्यास के तत्व करीब-करीब एक से हैं, किन्तु कला और शिल्प-रचना की दृष्टि से इनमें बड़ा अन्तर है। उपन्यास में प्रधान वस्तु कथानक है। कथानक की सुनिश्चित योजना उपन्यासकार के कौशल का द्योतक होती है। कहानी में कथानक की ऐसी योजना नहीं होती। कहानी का ध्येय तो किसी चरित्र का विशेष अंग तथा विशेष वातावरण प्रस्तुत करना होता है। वह हमारा रागात्मक सम्बन्ध भी चरित्र के एक अंग और विशेष वातावरण से कराना चाहती है। इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि कहानी में विस्तृत कथानक हो ही। चरित्र के अभाव में कहानी एक सीमा तक कहानी नहीं रह सकती, पर कथानक के अभाव से उसपर कोई गहरा प्रभाव नहीं पड़ता।

उपन्यास में जीवन की अनेकरूपता कथा के सम्पर्क-विकास के लिए आती है, किन्तु कहानी में ऐसी अनेकरूपता का होना असंभव है। उसमें तो एक प्रभावान्विति होती है, जिससे कहानी में उपन्यास की अपेक्षा एकान्वयता अधिक होती है।

उपन्यास के पात्रों में कहानी के पात्रों से अधिक सजीवता होती है, क्योंकि पात्र के जीवन के प्रत्येक पहलू से पाठक परिचित हो जाता है। कल्पना की सृष्टि का वह खिलौना पाठक को अपने संसार का प्राणी मालूम होता है। कहानी में चरित्र के ऐसे विकास का अवसर ही नहीं मिलता।

कहानी के सभी तत्वों—कथानक, शैली, चरित्र-चित्रण वातावरण का सामूहिक विकास कहानी में नहीं होता। किसी एक ही की प्रधानता रहती है, किन्तु उपन्यास में इन सभी तत्वों के उद्घाटन की व्याप्ति आवश्यक है।

कहानी में उपन्यास जैसी अनेकरूपता तथा प्रासंगिक कथाएँ नहीं होतीं। कहानी यदि जीवन के एक पहलू की झाँकी है, तो उपन्यास पूरे जीवन को प्रभावित करनेवाला संपादित संचयन है।

अतएव शैली, ध्येय, कौशल और कला की दृष्टि से उपन्यास कहानी से सर्वथा भिन्न है।

यह ठीक है कि कहानी में अनेकरूपता नहीं होती, किन्तु वह अपनी एकरूपता में ही हमारे निकट आ जाती है और अपनी संक्षिप्त तथा प्रभावोत्पादकता के कारण ही शीघ्र हमें आकृष्ट करती है। किसी भी चित्र का आकर्षण उसके दृश्य-चयन में तो है ही, साथ हो, साथ तूलिका की उस जीवन्त अभिव्यक्ति में भी है. जो उसे सजीव करती है। अभिव्यक्ति जितनी ही अधिक संक्षिप्त होगी, तूलिका को उतनी ही अधिक सूक्ष्म रेखाओं द्वारा प्रभाव की उतनी ही व्यापक प्रतिष्ठा करने के लिए प्रयत्न-शील होना होगा। गतिमान्यता के साथ तादात्म्य स्थापना उसके गुण-धर्म का सहज फल होगा। संक्षिप्तता के साथ कला की तीव्रता कहानी की शक्ति है। जितनी ही अधिक क्षमता कहानी में रागात्मक सम्बन्ध स्थापन की होगी, कहानी उतनी ही सक्षम होगी। सम्बन्ध संस्थापन की यह शक्ति कहानी की शक्ति है।

यद्यपि भारतेन्दु-युग से आधुनिक गद्य साहित्य का विकास होता है, तो भी आधुनिक ढंग की कहानियाँ भारतेन्दु-युग में न लिखी गयीं, आख्यायिकाएँ अवश्य लिखी गयीं। अन्य भाषा-भाषी लेखक अँग्रेजी के सम्पर्क में आ चुके थे, विशेषकर बंगलावाले। अनुवाद तथा मौलिक रचनाएँ वहाँ लिखी जा रही थीं। हिन्दी में गिरिजाकुमार घोष, लाला पार्वतीनन्दन तथा पूर्णचन्द्र की स्त्री 'बंग महिला' ने बंगला से कुछ अनुवाद किये। 'बंग-महिला' ने मौलिक कहानियाँ भी लिखने का प्रयत्न किया; किन्तु वे बंगला कीव कहानियों के प्रभाव से अछूती नहीं रहीं।

तत्कालीन मौलिक कहानियों के विकास की अनुसूची—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने नीचे लिखे ढंग से दी है।

इंदुमती—'किशोरीलाल गोस्वामी' सन् १६००, गुलबहार 'किशोरीलाल गोस्वामी' सन् १६०२, प्लेग की चुड़ैल—मास्टर भगवानदास मिर्जापुर सन् १६०२, ग्यारह वर्ष का समय—रामचन्द्र शुक्ल १९०३, पंडित और पंडितानी, गिरिजादत्त बाजपेयी, १६०३, दुलाईवाली—बंग महिला १६०७।

इन्हीं दिनों श्री सर्वविद्यानाथ शर्मा; तथा मैथिलीशरण गुप्त का क्रमशः 'विद्याबहार', 'निन्यानवे का फेर' उपदेशात्मक आख्यान प्रकाशित हुए। माधवप्रसाद मिश्र आख्यायिकाएँ ही लिखते रहे, विश्वम्भरनाथ जिज्जा तथा वृन्दावनलाल वर्मा की कहानियाँ भी इसी समय छपीं, पर इन सभी कहानियों में साहित्य और कला की दृष्टि से कोई ऐसी अभिनव बात नहीं थी, जिनके कारण इनका विशेष महत्व हो, अपितु इन्हें प्रयोगकालीन रचना ही मानना श्रेयस्कर होगा। 'दुलाईवाली' जीवन की सामान्य अभिव्यक्ति के कारण हिन्दी की अत्यन्त महत्वपूर्ण कहानी है। इसके पश्चात् तो हिन्दी में कहानियों की एक झड़ी ही लग गयी। इन कहानियों का महत्व क्रम विकास की दृष्टि से केवल ऐतिहासिक मात्र ही समझना चाहिये।

कहानियों का प्रारम्भिक विकास दिखाया जा चुका है। प्रारम्भ में लिखी गयी वे कहानियाँ अन्य भाषाओं, विशेषकर बंगला के प्रभाव का परिणाम थीं। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया यह प्रभाव कम होता गया और मौलिक-रचना का विकास हिन्दी में होने लगा।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य में श्री जयशंकर 'प्रसाद' की सर्जना नागरी-प्रचारिणी सभा जैसी संस्थाएँ भी सर्वश्रेष्ठ मानती हैं; और वास्तव में बात भी यही है। सभी क्षेत्रों में न केवल साहित्यिक-अनुष्ठान के सिद्ध साधक के रूप में वे आगे आये, अपितु बाद में भी उन जैसा मेधावी व्यक्तित्व नहीं दीख पड़ रहा है। प्रसादजी की यौवनमयी प्रतिभा अभिव्यक्ति के लिए व्याकुल हो रही थी। उन्हीं की प्रेरणा के परिणामस्वरूप, उनके भांजे स्व० अम्बिकाप्रसाद गुप्त ने सन् १६०६ में 'इन्दु' नामक मासिक पत्रिका निकाली। इसीके द्वारा कहानी

के क्षेत्र में नये उत्थान की सूचना हिन्दी जगत को मिली। इसमें १६११ ई० में सर्वप्रथम 'प्रसाद' की पहली कहानी 'ग्राम' का प्रकाशन, नयी ढंग की कहानियों का आदि स्रोत माना जाता है। इस पत्रिका में उनकी चार और कहानियाँ इसी वर्ष प्रकाशित हुईं। ये पाँचों कहानियाँ 'छाया' नामक संग्रह में दूसरे वर्ष ही प्रकाशित हो गयीं। हिन्दी के प्रायः सभी प्रारम्भिक अच्छे कहानीकारों की रचनाएँ भी इसी समय से प्रकाश में आने लगीं। उनकी तालिका अन्यत्र प्रस्तुत की गई है।

इस उत्थान के प्रमुख लेखक १६२५ तक इस क्षेत्र में आ चुके थे। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद लिखी गयी कहानियाँ अत्यन्त प्रौढ़ लगती हैं। प्रारम्भिक समय में लिखी गयीं कुछ कहानियाँ समय से बहुत आगे हैं। इन कहानियों में 'उसने कहा था' आज भी हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में से एक है। इन कहानियों के गुण-धर्म का विवेचन करने पर प्रायः सभी कहानीकार चार वर्गों में आ जायेंगे। प्राचीन आलोचक इसे कहानी के स्कूलों में विभाजित करते हैं। यदि स्कूलों की शैली पर ही विभाजन किया जाय तो भी चार ही स्कूल ठहरते हैं। 'प्रसाद', प्रेमचन्द, उग्र और अनुवाद स्कूल। श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड़ ने ऐसा ही विभाजन सन् १६३१ में 'हंस' में एक लेख में किया था, जो वैज्ञानिक विश्लेषण पद्धति पर आधृत है।

अन्तर्भावनाओं को भावनामूलक शैली में, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठ पर उपस्थित करनेवाले कलाकार प्रसाद-स्कूल के अन्तर्गत आते हैं।

सामाजिक पृष्ठभूमि पर सउद्देश्य रचना करनेवालों के अन्तर्गत प्रेमचन्द-स्कूल की मान्यता स्थापित होती है। जहाँ तक इस स्कूल का प्रश्न है, सामाजिक पृष्ठभूमि पर सभी प्रकार की रचनाएँ सुधारवादी दृष्टि से लिखी गयीं।

तीसरा स्कूल, जो 'उग्र' के नाम पर प्रतिष्ठित किया गया है, शैली और भाषा के चमत्कारवाले सामयिक चेतना से संवलित लेखकों का है।

अनुवाद-स्कूल नामकरण उन लेखकों की रचनाओं के कारण रखना पड़ रहा है, जो विभिन्न भाषाओं से छाया या समूल अनुवाद हिन्दी में मौलिक रचना के नाम पर करते रहे हैं।

इस युग में भावना प्रधान कहानी लिखनेवालों में प्रसादजी जैसा कलाकार कोई न हुआ। प्रसाद की प्रारम्भिक कहानियाँ उनके विकास के बीज मात्र का संकेत करती हैं। बाद की उनकी रचनाएँ प्रौढ़ हैं। उनकी प्रारम्भिक कहानियों पर शिल्प-दृष्टि से बँगला का प्रभाव है। प्रसाद ने ऐतिहासिक, प्रागैतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक सभी पृष्ठभूमियाँ ली हैं; किन्तु सर्वत्र अन्तर के चित्रों का मूर्त्तरूप, हृदय पर प्रभाव डालनेवाली काव्यमय शैली में उन्होंने प्रस्तुत किया है। कहानी-कला की दृष्टि से वे एक महान कलाकार के रूप में प्रकट हुए और सदैव उनकी कहानियाँ हिन्दी संसार के लिए प्राणवान् साहित्य के रूप में ग्रहण की जाती रहेंगी। इन्होंने प्रारम्भ से अन्त तक कला की जिस तूलिका से हिन्दी कहानियों को सवाँरा, वह उनकी अकेली और अपनी है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में गुलेरीजी की 'उसने कहा था' कहानी एक बहुत बड़ी घटना के रूप में सदैव ग्रहण की जायगी। हिंन्दी-कहानी-साहित्य के शैशवावस्था में जिस आदर्शोन्मुखी यथार्थ की प्रतिष्ठा उन्होंने अपनी इस कहानी में की, उसकी ऊँचाई आज भी हिन्दी की गिनी-चुनी कहानियों में अपने स्थान पर श्रेष्ठ है। इसके पूर्व वे दो कहानो और लिख चुके थे, पर वे कहानियाँ सामान्य-कोटि की तो हैं ही, भद्दी और भोंड़ी भी हैं।

इसके पश्चात् उर्दू से आये प्रेमचन्द का परिचय १९१५ ई० में 'सौत' द्वारा हिन्दी जगत को प्राप्त हुआ यद्यपि प्रेमचन्द इस उत्थान-काल में दलित, पीड़ित जनता की पुकार के सन्देशवाहक के रूप में प्रकट हुए, तथा यथार्थ जीवन में आदर्श की प्रतिष्ठा का बीड़ा उन्होंने उठाया, तो भी इनकी कुछ ही कहानियाँ कला की दृष्टि से ऊँची ठहरेंगी। उनकी कुछ कहानियों की ऊँचाई संभवतः हिन्दी में लिखी गई अपने ढंग की कहानियों में सर्वोच्च है। कौशिकजी यद्यपि इसी पद्धति पर कहानी लिखते थे, पर प्रेमचन्द के पहले से ही हिन्दी में लिख रहे थे। इस शैली के तीसरे प्रमुख लेखक 'सुदर्शन' जी माने जाते हैं। यह मान्यता अतिरंजना लिए हुए है।

'उग्र' की कुछ कहानियाँ इतनी सुन्दर हैं कि उन्हें हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानियों की कोटि में निःसंकोच रखा जा सकता है। यद्यपि अतिशय यथार्थ के

चित्रण के कारण, तथा अपने अक्खड़ व्यक्तित्व के कारण उनके साहित्य के प्रति भी वही भावना लोग व्यापक रूप से व्यक्त करते हैं जो उनके प्रति लोगों की है, तो भी उनके साहित्य का तटस्थ अध्येता निश्चय ही यह कहे बिना नहीं रुक सकता कि उनकी प्रतिभा के साहित्कार उस युग में एकाध ही हुए। भाषा का जादू, शैली का निजत्व, विषय का प्रतिपादन सभी कुछ इनका अपना है। यद्यपि उन्होंने कुरुचिपूर्ण सामाजिक नग्न सत्य का चित्रण किया है, तो भी उनका ध्येय आदर्श से अनुप्राणित रहा है, इसमें सन्देह नहीं। वे उन कलाकारों में हैं जो सामाजिक कुरीतियों का नग्न चित्र कलाकार की आँखों से दर्शाकर परिवर्तन के लिए समाज को उद्बोधित करते हैं। 'उग्र' की रचनाओं का सम्मान पाठक करते हैं, भले ही राग-विराग के कारण कुछ उनसे नाक-भौं सिकोड़ें।

इस युग के कहानीकारों में राय कृष्णदास की दो-एक कहानियाँ कलात्मक अभिव्यक्ति के कारण अच्छी बन पड़ी हैं। सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' युग के अच्छे कथाकारों में गिने जाते हैं। प्रेमकी टीस से भरी कहानी लिखने में पंडित विनोदशंकर व्यास की तत्कालीन सफलता भावनाओं की रेखा खींचने के कारण थी। यद्यपि जी० पी० श्रीवास्तव इस उत्थानकाल के प्रथम कोटि के हास्यरस के कहानीकार समझे जाते हैं, तो भी सत्य यह है कि उन्होंने भड़उआ मात्र लिखा है। पंडित भगवती प्रसाद वाजपेयी की कहानियाँ परिस्थिति के सुन्दर चित्रण के कारण उत्कृष्ट बन गयी हैं। इस उत्थानकाल के प्रमुख कहानी लेखकों में जैनेन्द्रजी की भी गणना की जाती है। ऊटपटांग भाषा में, ऊबड़-खाबड़ शैली में लिखने और दार्शनिकता के बोझ से बोझिल होने पर भी, उनकी कुछ कहानियाँ अच्छी बन पड़ी हैं। चतुरसेन शास्त्री के प्रशंसकों की भी कमी हिन्दी में नहीं। उन्हें केवल उस श्रेणी के कहानीकारों के अन्तर्गत रखा जा सकता है जिनकी रचनाएँ केवल शैली-शिल्प प्रदर्शन के लिए लिखी जाती हैं। उनमें अपने को अभिव्यक्त करने की क्षमता है। संभवतः जाने-माने लोगों में प्रभाव उत्पन्न करनेवाले जितने अधिक साहित्य का निर्माण उन्होंने किया, उतना उस युग के किसी अन्य ने नहीं। राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह भाषा के जादूगर तथा भावों

के खिलाड़ी हैं। वे निरन्तर अपनी सरस रचनाओं द्वारा हिंदी वाङ्मय को भरते रहे। वे अपनी भावनाओं के सफल चित्रकार हैं। 'बेनीपुरी' ने कुछ अच्छी कहानियाँ लिखी हैं। श्री शिवपूजन सहाय जी की कहानियाँ देहाती वातावरण का सजीव चित्र हैं। शैली, भावना एवं कथानक सभी दृष्टियों से उनकी कहानियाँ अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। इस भाँति कहानी के विकास का यह द्वितीय उत्थान-काल बहुत ही महत्वपूर्ण रहा, जिनमें ३-४ हिन्दी के मौलिक कहानीकारों को सदैव ही स्मरण किया जाता रहेगा।

हास्य और व्यंग की कहानियाँ इस युग में कम लिखी गयीं। श्री अन्नपूर्णानन्द इस उत्थानकाल के सर्वाधिक प्राणवान हास्य-कहानियों के रचयिता हैं।

तृतीय उत्थान-काल इसके पश्चात आरम्भ होता है। इस युग का कहानीकार अंग्रेजी के माध्यम से पश्चिम जगत के विकसित कथा-साहित्य से परिचित हो चुका था। विविध ढंग की कहानियों का जिस पैमाने पर इस युग में विकास हुआ, वह निश्चय ही बहुत बड़ी सम्पन्नता का परिचायक है। विविधता का यह रूप तो १६२० की कहानियों के बाद ही से दीखने लगता है, पर उसका वास्तविक पल्लवन व्यापक रूप से १६३० के बाद से ही प्रारम्भ हो सका। इस युग में सेक्स से लेकर जनहित को प्रभावित करनेवाली कहानियाँ लिखी गयीं। इस उत्थान-काल में सेक्स सम्बन्धी कहानियाँ, सामाजिक कहानियाँ, राजनीतिक कहानियाँ, मनोवैज्ञानिक कहानियाँ, दार्शनिक कहानियाँ तथा वादों के घेरे में लिखी गयी सभी प्रकार की कहानियाँ दीख पड़ेंगी। इस युग में पाँच-छः ऐसे महान प्रतिभा-सम्पन्न कहानीकार हिन्दी-जगत के सम्मुख आये, जिनकी गणना निश्चय ही बहुत समय तक श्रेष्ठ कथाकारों में की जाती रहेगी। इस युग के प्रमुख कहानीकारों में अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा, बेढब, यशपाल, राधाकृष्ण आदि हैं। अज्ञेय की कहानियों में अंतर्मुखी वृत्तियों को अभिव्यक्त करने की अनोखी क्षमता है। भगवतीचरण वर्मा की कहानियाँ अपने भीतर विद्रोह की मानसिक अभिव्यक्ति सँजोये हुए हैं। बेढब ने स्वस्थ हास्य की कहानियाँ अत्यन्त सुन्दर ढंग से उपस्थित कीं। बेढब की कहानियों में विविधता के साथ-साथ सामाजिक, धार्मिक परिस्थितियों पर व्यंग बड़े उच्च स्तर पर मिलता है।

यशपाल जैसा उच्चकोटि का कलाकार इस उत्थानकाल में हुआ। वैसा सभी दृष्टियों से कोई अन्य नहीं दीखता। चलती, प्राणवान भाषा में, जीवनमय चित्रों के बीच आस्थापूर्ण मानवतावादी संदेश की वाहिका उनकी कहानियाँ हैं। वे कहीं-कहीं बहके भी हैं, दलगत राजनीति के प्रभाव के कारण, पर कलाकार यशपाल सर्वथा अपने ढंग का अकेला है, तथा हिन्दी की बहुत बड़ी सम्पत्ति है।

राधाकृष्ण की कहानियाँ प्रचारित न होने पर भी अत्यन्त उच्च कोटि की हैं। 'घोस बोस बनर्जी' के नाम से हास्यमयी कहानियाँ, तथा राधाकृष्ण के नाम से उन्होंने गंभीर कहानियों का सृजन किया। उनकी अधिकांश कहानियाँ सफल तथा पूर्ण हैं। 'अश्क' की कहानियाँ भी सामान्यतः अच्छी है। पंडित बलदेव प्रसाद मिश्र की कहानियाँ मार्मिक, चुटीली तथा हृदय-मोहनी हैं। काशी की ऐतिहासिक घटनाओं को आधार बनाकर लिखी गयी श्री शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' कहानियाँ अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी हैं। इलाचन्द्रजी मनोविज्ञान के पंडित अधिक तथा कहानीकार कम हैं। सर्वश्री कमल जोशी, द्विजेन्द्र, राजकुमार, मार्कण्डेय यद्यपि प्रचार की दृष्टि से बहुत अधिक व्यापक नहीं, किन्तु उनका भविष्य निश्चय ही उज्ज्वल है। वे सरस भावपूर्ण सुन्दर रचनाएँ अपने-अपने ढंग से लिखते चले जा रहे हैं।

स्त्रियाँ भी इस क्षेत्र में आयीं जिनमें सुभद्राकुमारी चौहान, उषादेवी मित्रा, होमवती, कमला त्रिवेणीशंकर, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा आदि की कहानियाँ सम्मानित हुईं।

इस विवेचन में संभवतः कुछ अच्छे कहानीकार छूट गये हों, पर अनेक प्रचारप्राप्त कहानीकारों को न पाकर आश्चर्य हो सकता है। ज्ञान की पूर्णता के सम्बन्ध में स्पष्ट ही लाघव मेरे साथ है पर जानबूझकर उनके नामों की गणना नहीं की गयी है यद्यपि यह आश्चर्यजनक प्रतीत होगा पर उनकी जैसी कहानियाँ होती हैं, वे ऐतिहासिक महत्व की नहीं। अस्वस्थ, गंदे और भद्दे कहानीकारों को भी छोड़ दिया गया है। एक बात विशेष ध्यान देने की है। आज रचना-वैचित्र्य तथा अहम् भावना से हिन्दी कहानीकार जैसी रचना कर रहे हैं, वह कहानी की व्यापकता को सीमित कर दे रहा है। यह प्रवृत्ति दुःखद है।

कहानी का भविष्य अधिक मंगलमय दिखायी नहीं देता। एक ओर तो उसमें अतियथार्थवादी होने का आग्रह है, दूसरी ओर वह अपने प्रधान गुण औत्सुक्य और कुतूहल को भी छोड़ती जा रही है। कहानी की यह गति उसे किस ओर ले जायेगी कहना कठिन है। कल की कहानी और स्केच में कितना अन्तर होगा? दोनों के बीच की विभाजन-रेखा क्या होगी और जब अतियथार्थवाद के कारण कहानी केवल स्केच ही रह जायेगी तब क्या उसकी सर्वप्रियता बनी रहेगी? ये कुछ ऐसे विषय हैं जिन पर शीघ्र कुछ नहीं कहा जा सकता।

कहानी पर दूसरा आक्रमण एकांकी नाटकों का है। आज की परिस्थिति भी एकांकी नाटकों के विकास में सहायक है। उसका यह विकास भी कहानियों के भविष्य को धक्का देगा। कहानी के क्षेत्र में इधर अच्छी प्रतिभाएँ भी दिखायी नहीं पड़ रही हैं। ये सब, कुछ ऐसे कारण हैं, जिससे आशावादी व्यक्ति भी कहानियों के मंगलमय भविष्य की मधुर कल्पना नहीं कर पाते।

हिन्दी के कुछ लेखकों की पहली कहानी किस सन् में छपी है, उसकी तालिका नीचे है। इससे हिन्दी कहानीकारों का विकास-क्रम सरलता से समझा जा सकता है।

सन् १९११—जयशंकर 'प्रसाद'
सन् १९११—जी० पी० श्रीवास्तव
सन् १९११—चन्द्रधर शर्मा गुलेरी
सन् १९१२—विश्वम्भरनाथ जिज्जा
सन् १९१२—विश्वम्भरनाथ 'कौशिक'
सन् १९१३—राजा राधिकारमण प्रसाद
सन् १९१४—ज्वालादत्त शर्मा
सन् १९१४—शिवपूजन सहाय
सन् १९१४—चतुरसेन शास्त्री
सन् १९१४—बदरीनाथ भट्ट
सन् १९१५—प्रेमचन्द

सन् १९१७—राय कृष्णदास
सन् १९१७—पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी
सन् १९१८—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'
सन् १९१९—चंडीप्रसाद 'हृदयेश'
सन् १९१९—गोविन्दवल्लभ पंत
सन् १९२०—'सुदर्शन'
सन् १९२०—सुमित्रानन्दन पंत
सन् १९२१—भगवतीचरण वर्मा
सन् १९२२—पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'
सन् १९२३—सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'
सन् १९२३—श्री वृन्दावन लाल वर्मा
सन् १९२३—श्री इलाचन्द जोशी
सन् १९२४—भगवतीप्रसाद वाजपेयी
सन् १९२४—अन्नपूर्णानन्द
सन् १९२४—श्री राजेश्वर प्रसाद सिंह
सन् १९२५—विनोदशंकर व्यास
सन् १९२६—वाचस्पति पाठक
सन् १९२६—जनार्दन झा 'द्विज'
सन् १९२६—धनीराम 'प्रेम'
सन् १९२७—पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी'
सन् १९२७—ऋषभचरण जैन
सन् १९२७—श्रीमती शिवरानी देवी
सन् १९२८—जैनेन्द्रकुमार
सन् १९२८—चन्द्रगुप्त विद्यालंकार
सन् १९२८—सियारामशरण गुप्त
सन् १९२९—पं० प्रफुल्ल चन्द्र ओझा 'मुक्त'
सन् १९३०—राधाकृष्ण

सन् १९३०—'पहाड़ी'
सन् १९३१—परिपूर्णानन्द वर्मा
सन् १९३१—'बेढब' बनारसी
सन् १९३२—अज्ञेय
सन् १९३२—वीरेश्वर प्रसाद सिंह
सन् १९३३—उपेन्द्रनाथ 'अश्क'
सन् १९३३—श्री 'भारतीय'
सन् १९३३—अमृतलाल नागर
सन् १९३३—उषा देवी मित्रा
सन् १९३४—सुभद्राकुमारी चौहान

[४]

निराला और गीत गुञ्ज

पं० सूर्यकांत त्रिपाठी निराला हमारे महान् सांस्कृतिक कवि हैं। उनके जीवन का निर्माण साधना के उन महत्तम सूत्रों पर आधृत हैं, जो सत्य, सुन्दर और मंगल की सृष्टि में जीवन का सर्वस्व समझते हैं। वे उस महान् जीवन-साधना के प्रतीक हैं जो भारतीय ऋषियों एवं महर्षियों की साधना का जीवन-संबल होता था। इस साधना में 'स्व' की आहुति से विचारों का दर्शन कर युग की मलीनता को, आलोकपूर्ण ज्योति दर्शन कराया जाता है तथा पीड़ित प्रताड़ित समाज को आशा और विश्वास का संदेश दिया जाता है। साधक का संबल इस आलोक-सृष्टि के निर्माण में केवल आराधना हुआ करती थी। निराला जी का जीवन इस साधना, आराधना का पूंजीभूत मूर्त्तरूप है। उनका जीवन सतत त्याग-उत्सर्ग ही करता रहा है. मंगल और प्रकाश के संसार के निर्माण हेतु।

आज जब वे विषण्णमन हैं, क्षीण तन हैं तब भी उस साधना में तल्लीन हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार भारतीय भूमि के साधनाकालीन साधक। कहना न होगा कि जितने विविध-प्रौढ़ प्रयोग उन्होंने आधुनिक हिंदी कविता में किये, उतने अन्य किसी ने नहीं। उनके ये प्रयोग सदैव हृदय को पुलकित करने वाली प्रेरणा से संबलित रहे हैं।

युग का कवि जिस समय नवीन काव्य की सृष्टि के लिये विह्वल था, उसी समय छायावादी काव्य के प्रतिष्ठापकों के रूप में पं० सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' क्रान्तदर्शी मौलिकता लेकर आये। छायावाद की संकल्पात्मक श्री-वृद्धि में निराला जी ने क्रान्ति उपस्थित की। उनकी ओर सबका ध्यान एकाएक निर्बाध छंदों के कारण आकृष्ट हुआ। इन्हीं छंदों के कारण निराला को रूढ़िग्रस्त कविता प्रेमियों की भर्त्सना का भाजन बनना पड़ा। उनकी 'जूही की कली' का प्रकाशन क्रान्ति

उपस्थित करने में सफल रहा। प्रायः लोग यह समझते थे कि छंदों के बन्धन में ही रचना की जा सकती है। भाव सदैव छंद की कारा में बंदी रहते हैं। पर 'निराला' ने भावों के संकेत पर इन छंदों का प्रणयन किया। इस अनहोनी बात को लय और सुर के ताल पर संगीत की स्वर लहरी में जिस कौशल के साथ निराला जी ने अभिव्यक्त किया, वह उनकी शक्ति का परिचायक है। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने इस सम्बन्ध में अच्छी तरह उत्तर दिया है कि 'पूछा जा सकता है कि जब नए छंद प्रयोग में आये, तब पुराने छंदों ने क्या बिगाड़ा और इतने से ही क्या छंद की अनिवार्यता सिद्ध नहीं होती।' इसके उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि पुरानी कोठियों और महलों से, जो दूर वातावरण में बने थे, बाहर निकल आना भी कभी क्रांति कहला सकती है, और नए आवास बनाकर रहना भी नये वातावरण का निर्माण करना कहा जा सकता है। ठीक यही बात निराला जी के छंद और उनकी छंदात्मक रचनाओं के संबंध में कही जा सकती है।

कल्पना की सूक्ष्मता, कला की बारीकियों के द्वारा जिस रूप में उनकी रचनाओं में अभिव्यक्ति हुई, वह हिन्दी-काव्य के लिये अत्यन्त गौरव की बात है। निरालाजी की स्वच्छन्दता उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। कल्पना से लेकर नये प्रयोगों तक जिस गम्भीरता के साथ यह स्वच्छन्दता उनमें दीख पड़ती है, उतनी हिन्दी में किसी अन्य कवि में नहीं। प्रायः कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि उनके भाव, कथन, भाषा सभी विशृंखल हैं। यह उनकी बहुत बड़ी भूल है। स्वच्छन्दता में भी भावों की शृंखला उनकी विशेषता है। निराला जी की पहली पुस्तकाकार रचना हिन्दी जगत के सम्मुख बहुत बाद में आयी, यद्यपि पत्रों में उनकी रचनाएँ बहुत पूर्व ही प्रकाशित हो चुकी थीं। 'परिमल' में उनकी मौलिकता तथा युग-विधायनी कृतित्व की क्षमता मिलती है। 'परिमल' में निर्बंध छंद में रचा हुआ 'पञ्चवटी प्रसंग', 'शिवाजी का पत्र' आदि ऐसी रचनाएँ हैं जो सजीव और प्राण-वान अभिव्यक्ति अपने भीतर समेटे हुए हैं। कल्पना-प्रधान विशुद्ध भावनाओं की अभिव्यक्तिमयी रचनायें 'जूही की कली' आदि हैं। 'परिमल' के भीतर दृश्य का चित्र उपस्थित करनेवाली ऐसी अत्यन्त सुन्दर रचनायें भी हैं, जो कवि की

मानस की गहराई का चित्र उपस्थित करती हैं, जिनमें प्रकृति की झलक से लेकर पूजा के मन्दिर की शान्त दीपशिखा भारत की विधवा भी है। कुछ रचनायें ऐसी भी हैं जो कल्पना-प्रधान होते हुए भी चमत्कारपूर्ण प्रभाव के कारण हिन्दी की विशिष्ट रचना समझी जाती हैं। कुछ सहज भी हैं, और कुछ लम्बी, कल्पना-प्रधान अतीत का वैभव समेट श्रेष्ठ सांस्कृतिक रचनाएँ भी हैं। श्रृंगार की जो स्वस्थ भावना 'परिमल' में अंकुरित दीख पड़ती है, 'गीतिका' उसका विकास है। गीतिका के गीत यद्यपि पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी को ठूँठे लगते हैं तो भी सहज मानवीय स्वस्थ, गंभीर समवेदनाशील भावना के कारण तथा लय की झंकार के कारण एक मनोहर अभिव्यक्ति, जो मौलिक भी है, गीतिका में दीख पड़ती है। इन गीतों की भाषा संस्कृत बहुल है किन्तु सरसता का उनमें अभाव देखना बुद्धि का संतुलन नहीं माना जा सकता। इस कृति का हिन्दी के गीत-काव्यों में गौरवशील स्थान है। 'गीतिका' के बाद निराला का विराट रूप हिन्दी-जगत् के सामने उपस्थित हुआ। जिसमें प्रयोग की विविधता, काव्य-शक्ति की पूर्ण प्रौढ़ता दीख पड़ती है। 'राम की शक्ति पूजा' 'सरोजस्मृति' जैसी भावना-प्रधान रचनायें जो हिन्दी की श्रेष्ठतम सुन्दर कृतियों में से हैं, निरालाजी ने इसी समय रचीं। गंभीर भावनाओं की गंभीरतापूर्वक अभिव्यक्ति जो हृदय को आन्दोलित कर एक सारभौम प्रभाव छोड़ती है, उनके भीतर इन रचनाओं की गणना होती रहेगी।

× × ×

सौ छन्दों में गौड़ीय पद्धति पर निर्मित निराला की 'तुलसीदास' रचना अपने स्थान पर आज भी अकेली है। गंभीर भावभंगिमा के मनोवैज्ञानिक चित्रों को सांस्कृतिक भित्ति पर कला की जिस तूलिका से निराला ने इस कृति में सँवारा है, वह उनकी अपनी मौलिक विशिष्टता है। ध्वनि के चित्रों को उपस्थित करनेवाला ऐसा सुन्दर प्रबन्धकाव्य खड़ी बोली की कविता में अकेला है। कुछ महाकवि कहे जानेवाले लोगों ने भी 'तुलसीदास' के पदों से पूरी पंक्ति की पंक्ति सुन्दर समझ कर अपने काव्य में प्रयुक्त की है। शिकायत लोगों की यह है कि

उनकी भाषा बड़ी अनगढ़ है। इस सम्बन्ध में कहना यह है कि जिस सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का चित्र जैसा सजीव उस काव्य में उपस्थित किया गया है, क्यों नहीं बाद में ही कहीं कोई अपनी सरल भाषा में उपस्थित कर सका। कैलाश की ऊँचाई देखकर भाँई खा जाना आँखों का दोष हो सकता है। कैलाश की ऊँचाई उसकी अपनी विशिष्टता है।

इन रचनाओं के बाद 'निराला' एक नये रूप में, अपनी व्यंग प्रधान यथातथ्य निरूपित करनेवाली रचनाओं के कारण, विशेष चर्चा के विषय बने। कुकुरमुत्ता' में व्यंग-प्रधान शैली में, चलती भाषा में जिस प्रकार पूंजीपति के प्रतीक गुलाब को, जनता के प्रतीक कुकुरमुत्ता को उपस्थित कर व्यंग चित्रण किया है, वह व्यंग-साहित्य के इतिहास में अपनी मौलिकता के कारण अत्यन्त महत्व का है। अतिशयता का दोष इनके इन व्यंग-काव्यों में आ गया है। इन रचनाओं के अतिरिक्त उन्होने 'परिमल' में जिन भावनाओं का बीजारोपण किया, बराबर उस शैली की विकसित रचनाएँ करते रहे। 'अणिमा' और 'अर्चना' इसका उदाहरण है। 'बेला' और 'नये पत्ते' में उन्होंने छंदों में और नया प्रयोग किया। कवि की मूल भावनाओं का विकास 'अर्चना' और 'आराधना' के गीतों में है। 'अर्चना' और 'आराधना' के गीतों में भावना की जिस तन्मयता का दर्शन होता है वह आधुनिक हिन्दी गीतकारों में गंभीरता की दृष्टि से किसी भी कवि में नहीं मिला। हिन्दी-साहित्य के एकमात्र वे ऐसे गायक हैं, जो जीवन की समस्त विपन्नता के होते हुए भी काव्य की आराधिका देवी भारती पर अटल निष्ठा रखते हैं। उस निष्ठा में जहाँ एक ओर तुलसी की भांति हृदय निवेदन की असीम विनम्रता है, वहीं सूर और मीरा के गीतों की टीस भरी, रसमयता भी है।

'गीत-गुंज' उस साधना परम्परा का वह स्वर है, जो आत्मद्रष्टा ने जीवन के प्रांगण में देखा है। इसके प्रणेताओं ने कबीर के सबद और साखी से इसे महान् माना है। पर मुझे खेद है कि मैं कबीर से निराला जी के काव्य की तुलना नहीं कर सकता। यद्यपि मैं यह मानता हूँ कबीर महान् थे, कबीर की देन

महान् है, उन्होंने अपने समय और समाज की सेवा की है, महती सेवा की है, ऐसी सेवा जो आज भी अनेकों के लिए प्रेरणा का संबल है। पर मैं अपनी विनम्र-राय में उस रागात्मक वृत्ति का पोषक या स्रष्टा उन्हें नहीं मानता, जो जीवन साधना के अतल से स्रोतस्विनी की भाँति समाज और व्यक्ति की तृषा शांत करती है। कबीर तो मूलतः विवेकवादी रहस्यवाद का लोकोपयोगी अनुकरण करनेवाले समाज-सुधारक थे। भारतीय साधना परम्परा में लोकोपयोग मात्र की क्षमता नहीं, लोकनिर्माण की अदम्य भावना भी होती है, जो केवल विवेक मात्र पर आधृत नहीं रह सकती, वह तो हृदय की अनुभूतियों से युक्त योग है। वह उपयोग के साथ ही साथ नवनिर्माण के मन्त्र का बीजारोपण, एवं पल्लवन भी करता है। मैं निरालाजी के इधर के गीतों को तुलसी की साधना परम्परा के विकास की कड़ी में रखना अधिक समीचीन मानता हूँ।

यद्यपि कविवर प्रसाद जी महाकवि तुलसीदास को आदर्श, विवेक और अधिकारी भेद का कवि मानते हैं, पर अनेक अर्थों में भारतीय संस्कृति के इस महान् अध्येता के विचारों से यहाँ अपने को सहमत नहीं कर पा रहा हूँ। 'विनय पत्रिका' तुलसीदास के हृदयसाधना का वह प्रबल प्रतीक है, जिसके स्वर सा हृदयग्राही स्वर आज तक हिन्दी क्या अन्य भाषाओं में भी मिलना दुर्लभ है। कहना न होगा कि 'विनय-पत्रिका' उनके आत्म-साधना की ज्वाजल्यमान मूर्त्त वाणी है। निराला जी को जो लोग जानते हैं, या जिन्होंने उनकी रचनायें पढ़ी हैं वे निश्चय ही यह मानेंगे कि वे तुलसी के महान प्रेमी हैं। स्वर्गीय मनोहरा देवी जो कवि की धर्मपत्नी थीं तथा जिसके प्रभाव के कारण आप हिन्दी की ओर बढ़े, वे रामायण की कितनी प्रेमी थीं, किसी से छिपा नहीं है। खड़ी बोली में रामायण के अनुवाद की बात भी नहीं छिपी है। 'तुलसीदास' के सम्बन्ध में पूर्व ही निवेदन किया जा चुका है। अतएव उनके हृदय की साधना को मैं तुलसी की परम्परा में रखना अधिक उचित समझता हूँ। इस सम्बन्ध में एक बात और कह देने की यह है कि तुलसी ने मर्यादा की अपनी सीमा बना ली थी, वह सीमा उन तत्वों का कभी भी स्पर्श नहीं कर पायी जो हृदय में रूप-सौन्दर्य-रंजन पक्ष का रागात्मक प्रतिनिधित्व करते हैं। वह तो सूर और मीराँ की

सम्पत्ति है। सूर और मीराँ का यह रंजन गुण भी निराला की काव्य सीमा में जीवन के साथ ही घुल-मिल गया है।

मेरे कहने का यह अर्थ नहीं है कि यह प्रभाव उनके काव्य को लेकर है अपितु सहज ही जीवन के विकास के अंग के रूप में उन्होंने इसे ग्रहण कर लिया है। यह उनका अपना, अपने जीवन का प्रभाव है। मूलतः तो वे पुर्वोक्त परम्परा में रखे जा सकते हैं। उनका जीवन भी तुलसी के जीवन के अधिक निकट है। तुलसी के पैरों में बेवाय फटी थी। उन्हें दाने-दाने को लललाना और बिलबिलाना पड़ा था। समाज के महान् तथा कथित पण्डितों और आचार्यों का कोप-भाजन बनना पड़ा था। प्रिया का स्नेह भी वे न प्राप्त कर सके। उनके साथ ऐसा भी व्यवहार किया गया था जो अनेक अर्थों में मानवोचित नहीं कहा जा सकता। पर वे अपने रास्ते पर अडिग अटूट निष्ठा के साथ साधना सम्पन्न वातावरण की सृष्टि आत्म और जग कल्याण के निमित्त करते रहे। निराला का जीवन भी कम विपन्न नहीं रहा है। जितना प्रबल प्रहार निराला के जीवन पर, कृतित्व पर तथा पौरुष पर हुआ और जो कुछ भी उनके ऊपर बीता—अपने गुणों के कारण, वह छिपी बात नहीं है। निरन्तर पौरुष की आभा से उन्होंने उन परिस्थितियों का सामना भी किया और जिस ध्येय को लेकर वे चले उसके लिये आज तक सतत तपस्या कर रहे हैं। यद्यपि इन चोटों ने उनकी भौतिक शक्ति को निर्बल बना दिया तो भी अभी-अभी उन्होंने १४ नवम्बर को हिन्दी-दिवस पर जो घोषणा की, वह अत्यन्त प्राणवान आत्मा की वाणी ही हो सकती है। जिन आदर्शों की स्थापना के लिये उनका जीवन है, उन आदर्शों की दीप शिखा प्रज्ज्वलित करने में आज का भी उनका जीवन व्यतीत हो रहा है। आज भी उन्हें जिस बात से सुख शांति और संतोष मिलता है, वह उनके शब्दों में इस प्रकार हैं।

"मैं अब वृद्ध तथा कमजोर हो गया हूँ। सभी प्रकार की मानव व्याधियों ने मुझे घेर लिया है। किन्तु आप लोगों को मेरे स्वास्थ्य की चिन्ता न करनी चाहिए। यदि आप लोगों को मेरी सेवाओं के प्रति कुछ भी प्रेम और सम्मान हो, तो मेरी प्रार्थना है कि राष्ट्रभाषा की पताका को ऊँची करें। हिन्दी की सेवा

का व्रत लीजिये और स्वयं साहित्योत्पादन में सहायता दीजिये। संस्कृत तथा अन्य राज्य भाषाओं का अध्ययन करिये और उनका सम्मान करिये। इससे मुझे शान्ति और सुख मिलेगा।"

यह ऐसे व्यक्ति की वाणी है, जो सुख के ढूंढ़ने की कभी परवाह नहीं करता, आज की भी परिस्थिति में भी, जब कि वह ऐसी स्थिति में है। उनका उन्नत माथ विनत उसी के सम्मुख हो सकता है, जो शरण दोपरण है। यह बात उस साधना परम्परा की आख्यायिका है जो भारत की सांस्कृतिक उत्सर्ग की दीप्ति है। मैं पूर्व ही निवेदन कर चुका हूँ कि निराला जी जिस सांस्कृतिक भाव चेतना के अग्रदूत हैं, जिस काव्य की मूल वृत्ति के वे अभिसिंचक हैं उसी रचना प्रणाली के अन्तर्गत ही गीत-गुंज भी रखा जा सकता है।

'भग्न तन, रुग्ण मन, जीवन विपण्ण वन।
क्षीण क्षण क्षण देह, जीर्ण सज्जित गेह।
घिर गये हैं मेह, प्रलय के प्रवर्षण।
चलता नहीं हाथ, कोई नहीं साथ।
उन्नत, विनत माथ, दो शरण, दोपरण।'

आज निराला जी के सम्बन्ध में अनेक ऐसी बातें उड़ाई जा रही हैं, जो मूलतः राग-विराग से भरी हुई लोगों के षड्यन्त्र की खोज का आणविक शस्त्र हैं, पर निराला जीवन से भगने वाले नहीं, उसके बीच रहकर जीवन का दर्शन करने वाले सदैव रहे हैं और इस रचना में भी उसी रूप में वे सर्वथा वर्त्तमान है। आज के मानव की क्या स्थिति है, वह किस रूप में है उसकी क्या दशा है, यह जिन्होंने देखा है वह निश्चय ही निराला जी के इन विचारों से अपने को सर्वथा सहमत पायेंगे कि मानव आज पशु समझा जा रहा है। पशु के समान उसका तन और मन समझा जा रहा है। वह बैल और घोड़ा हो गया है। उनकी यह रचना इसका साक्षी है।

मानव जहाँ बैल घोड़ा है।

....

वन्य भाव का यह फोड़ा है।
इस पर से विश्वास उठ गया,
विद्या से जब मैल छूट गया,
पक पक कर ऐसा फूटा है,
जैसा सावन का फोड़ा है।

ऐसे जीवन के जागरूक भावनाओं से आप्लावित रचनाएँ वैसे ही कर सकते हैं, जो हृदय के छंदों में ही बँधकर गीत गाते हैं। कहना न होगा कि निराला जी ऐसे व्यक्ति हैं कि यदि उनके हृदय से छन्द न फूटें तो वे एक गीत भी गाने वाले नहीं। यह काव्य साधना की वह मान्यता है जिस मान्यता पर अवस्थित होकर अनभूति स्वयं वाणी बन मुखर हो उठती है। यह मुखर वाणी सदैव से निराला जी के अन्तस्तल से स्रोतवती होकर फूटी है। निराला के इस काव्य में भी उनकी वह साधना आस्थापूर्वक अभिव्यक्त हुई है, यह हिन्दी काव्य के लिये गौरव की बात है। आज क्या छायावाद और कहना न होगा कि द्विवेदी जी के युग में भी अनेक पिटे-पिटाये लोगों ने बुद्धि और विवेक द्वारा यंत्रवत् कविताओं का उत्पादन किया हृदय के उमंग से निकाली काव्य की वास्तविक धारा से सिक्ता-भूमि को पुष्पों के सौरभ से सुरभित करने वाले कुछ एक लोगों में निराला जी भी आगे आये। उनके हृदय की वह साधना आज भी जाग्रत और जीवित है जब कि उनके समय के अनेक महाकवि आज छन्दों में तुक गढ़ने में ही अपने विकास की चरम परिणति पा, खो गये हैं। उनकी कवि-काया स्वर्गीय हो उठी है। ऐसी स्थिति में भी हृदय की वाणी को सब कुछ मानना उस व्यक्ति का ही कार्य हो सकता है जो जीवन की स्वर लहरियों में हृदय की अनुभूतियों का द्रष्टा रहा हो। आज भी निराला जी वैसे ही हैं यह अनायास ही इन गीतों के गुंजार से जाना जा सकता है।

कहते कहते जग हार जाय,
रहते रहते मन मार जाय,
जो उड़े न अम्बर हरे बास
तो अपने भाव न लाना तुम।
कलियों के हारों बहु प्रकार,
उर लहरे गन्ध, बहे बयार,
यदि मिला न तुमरो हृदय-छन्द,
तो एक गीत मत गाना तुम।

ऐसा लिखने का अर्थ यह न लगाया जाय कि निराला जी के पास केवल हृदय ही है, बुद्धि और विवेक भी है। किन्तु हृदय से तो वह वाणी निकलती है जो विवेक के फिल्टर पेपर से छनकर हृदय में पहुँच स्थायी रूप में प्रवाहित हो उठती है। यह प्रबुद्धता विवेकजन्य स्थायी ज्ञान की अनुभवशीलता में है। विवेक द्वारा प्राप्त प्रभाव हृदय के अन्तस्तल में जब स्थान पा लेता है और उसकी सत्यता हृदय-सम्मत हो जाती है, अनुभव के बल पर, तब कहीं जा कर वह हृदय की वाणी के रूप में फूटता है। हृदय की वाणी विवेक की वह सीमा है जिसके आगे विवेक नहीं पहुँचता यदि हृदय की वाणी हृदय से ही निकली हो, हृदय के बहाने कहीं अन्यत्र से नहीं। इस अर्थ में निराला की समस्त वाणी जो इन गीतों में संरक्षित है वह उनके हृदय का स्वर है। उन भावों का उन्होंने साक्षात्कार किया है। वे भजन के साथ ही भोजन चीखने वाले व्यक्ति हैं। केवल गुण गाने वाले नहीं, अनुभव करनेवाले भी। वे उसे बल से प्राप्त नहीं करना चाहते अपितु स्नेह से देखना चाहते हैं। स्नेह की विजय शक्ति की विजय से कहीं महान हुआ करती है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण तुलसीदास और अकबर हैं। तुलसीदास ने स्नेह के बल पर लोगों का मन जीता था और अकबर ने शक्ति के बल पर अपने प्रतिष्ठा की धाक जमायी थी। तुलसी आज कंठ-कंठ पर प्रतिष्ठित हैं और अकबर केवल पोथियों में। जहाँ उत्सर्ग नहीं होता, वहाँ स्नेह नहीं हो

सकता। निश्चय ही उत्सर्ग के पीछे जो प्रेरणा होती है वह संकल्पात्मक जिज्ञासा-वृत्तियों का उन्नयन, प्रवर्द्धन और विकास करती है। यह जिज्ञासा पूर्ण संकल्पात्मक स्नेह इन गीतों में व्यक्त है।

पार, पारावार जो है,
स्नेह से मुझको दिखा दो।
रीति क्या, कैसे नियम,
निर्देश कर कर के सिखा दो।
कौन से जन, कौन जीवन,
कौन से गृह, कौन आंगन,
किन तनों की छांह के तन,
मान मानस में लिखा दो।
पठित या निष्पठित वे नर,
देव या गन्धर्व, किन्नर,
लाल, पीले, कृष्ण, धूसर,
भजन क्या भोजन चिखा दो।

ऐसी सहज संकल्पात्मक स्नेहजन्य अनुभूतियों की अभिव्यक्ति वही कर सकते हैं, जो सीधी राह चलने वाले होते हैं। टालमटोल और घुमाव फिराव से साधना को चिढ़ है, वह तो बुद्धि का धर्म है। मन का प्रदेश है। सच्चे साधक बिना किसी की परवाह किये उन रास्तों पर चलते हैं जो सहज होते हैं। जिनके जीवन के रास्ते सहज नहीं होते, वे हृदय के तत्वों का साक्षात्कार ही नहीं कर सकते।

यद्यपि बराबर ऐसा कहा जाता रहा है कि निराला जी का काव्य-पथ सहज नहीं है। उनके भाव के मूल तक पहुँचने में लोगों को कठिनाई भी होती है। किन्तु आज की ये रचनायें उनके लिये भी एक उत्तर है। किन्तु जहाँ दुराग्रह

विवेक के आसन पर शासन करने लगता है, वहाँ से जो स्वर निकलता है य जो मान्यताएँ स्थापित की जाती हैं, वे सीधे देखने की आदी ही नहीं होतीं। वे तो सुन सुना कर एवं मान कर चलती हैं। उनकी स्थिति पाईप में बँधे जल प्रवाह की है नदी की नैसर्गिक धारा की भांति उनमें मौलिक प्रवाह नहीं। धारा का यह प्रवाह नित-नूतन होता है। नये छवि का उन्मेष-कर्ता होता है।

हो सकता है कि कुछ लोगों को धारा की लहरें वक्र लगें। उसमें उन्हें सीधा सौन्दर्य न दिखाई पड़े किन्तु यह भी निश्चय है कि ऐसी आँखें उन्हीं की हो सकती हैं, जिन्हें यन्त्र की आँख मिली हो। प्रवाह में भी एक सहज सरल और स्पष्ट सीधापन है। ऐसा ही रास्ता निराला जी का है; जिसपर उनका जीवन फला और फूला है। इस सीधी राह पर चलने से उत्पात और घात के फफोले बुलबुले के समान स्वयं गल जाते हैं। निराला जी इसी सीधी राह पर अब भी हैं।

सीधी राह मुझे चलने दो।
अपने ही जीवन फलने दो।
जो उत्पात, घात आये हैं,
और निम्न मुझको लाये हैं,
अपने ही उत्ताप बुरे फल,
उठे फफोलों सा गलने दो।
जहाँ चिन्त्य है जीवन के क्षण,
कहाँ निराभयता, संचेतन,
अपने रोग भोग से रहकर,
निर्यातन के कर मलने दो।

ऐसी सीधी राह पर चलने वाले राह में ही विलीन नहीं हो जाते हैं अपितु उनकी गति से राह गुंजरित हो उनके लय में लीन हो जाता है। उनका उद्देश्य तो और ही है।

पर इस सीधी राह पर वे आँख मूंद कर भी नहीं चलते। वह देख कर चलते रहते हैं। रास्ते के दृश्यों में वे अपनी साधना को संबलित बनाते हैं और उसके सहज प्रभावों को लय से मूर्त्त करते रहते हैं। निराला जी को इस अर्थ में जितनी व्यापक दृष्टि मिली उतनी शायद ही किसी आधुनिक कवि को मिली हो। उन्होंने केवल नये-नये प्रयोग ही नहीं किये केवल जनता में प्रचलित छन्दों का ही साहित्य में स्फुरण नहीं किया, केवल साहित्य की लहरी में व्यंग द्वारा युग की पीड़ा ही अभिव्यक्त नहीं की अपितु प्रकृति के चित्रों को वाणी भी दी। उन्हें राग रागिनियों में बांध कर इस प्रकार सजीव कर दिया कि वे युग-युग के लिये अमर हो उठें। ऐसे चित्रों के लिए हृदय जितना ही संवेदनशील होता है व्यक्ति उन चित्रों के अन्तस्तल की उतनी ही सजीवता पूर्वक अभिव्यक्त कर पाता है। 'जूही की कली' जिसे देखकर कवि की वाणी स्पंदित हुई वह हिन्दी का चिरंतन सत्य बन गयी। किन्तु उस सत्य के पीछे जो साधनामयी दृष्टि थी, वह निराला जी की थी और वहीं गीत-गुंज में गीतों की लहरों पर अब भी थिरक रही है। कहीं-कहीं तो रहस्यात्मक सत्यों का उद्घाटन विराट सत्य की वाणी में अभिव्यक्ति के रूप में साकार हो प्राणवान हो उठा है या सहज रूप में, और कहीं पूजा के दान के रूप में महकती गलियों में उसी विराट शिल्पी के मोहक सौन्दर्य का रंग अभिव्यक्ति के रूप में सर्वत्र प्रस्फुटित हो उठा है।

सत्य पाया जहाँ जग ने, दान तेरा ही वहाँ है
जहाँ भी पूजा चढ़ी है, मान तेरा ही वहाँ है।

× × ×

कूंची तुम्हारी फिरी कानन में,
फूलों के आनन, आनन में।
फूटे रंग बसन्ती, गुलाबी,
लाल; पलास, लिये सुख, स्वाबी,
नील, श्वेत शतदल सर के जल,
चमके हैं केशर पंचानन में।

ऐसे अनेक गीतों में विराट सत्य का दर्शन भी कविने कराया है, जो लोक जीवन के उन चित्रों का जहाँ केवल सावन का पावन गीत ही प्राण नहीं है अपितु हरी ज्वार की परियाँ 'अरहर' फैली उड़द मूंग के पात का भी रूप खड़ी करने में सफल हैं। यह दृष्टि अनेक पदों में दिखाई पड़ती है। कवि इन विराट सत्यों में जग के मनोहर चित्रों को भूला नहीं है। उसकी आराधना के गीतों की गुंजार जग के बीच हुई है, जहाँ पर हरियाली है। ग्राम-वधू के सुख हैं और जहाँ वारिधि-वन्दन की परम्परा सनातन है। बादल को आमंत्रित करना भी कभी वह भूला नहीं है। वह उसे सहज ही आमंत्रण देता है, पूर्ववत् —

आओ, आओ वारिद वन्दन,
बरसो सुख, बरसो आनन्दन।
आशिष वायु गुल्म तृण परसो,
जन-जन के प्राणों में सरसो,
दृग अञ्चल बरसो हे बरसो,
स्नेह-स्नेह के आंगन स्पन्दन।
हरियाली के भूले-भूले,
ग्राम बधू सुख से दुख भूले,
गहरे गड़े मधुर जो भूलें,
करणो हे समीर के स्यन्दन।

यद्यपि वारिधि के आने पर पहिले जैसा आह्लाद कवि को नहीं होता जैसी सरसता हरियाली उसे पहले मिलती थी वैसा प्रभाव नहीं पड़ता। उसका भी हृदय तड़प उठता है क्योंकि अब बूँदें छुन-छुन सी उसे लगती हैं।

बादल रे, जी तड़पे।
किये उपाय सैकड़ों तन के,
मन के चरण, मिले सज्जन के,
व्यर्थ प्रार्थना जैसे अब है,
पंजर पिंजर करके।

अब अँधियारी ही बढ़ती है,
छाया छाया पर चढ़ती है,
प्राणों के घनश्याम गगन से
बूँदों कभी न बरसे।
छिप जाती है छवि बिजली में,
सरसर से दबती है हिय में,
बूंदां की छन छन से उन्मन
प्राण न मेरे हरसे।

ये बूंदें छन छन सी हैं इसलिए मदन का हिलोर अब कवि के सहन सीमा के परे हो उठा है। वह स्वयं उससे आग्रह करता है—

पारस, मदन हिलोर न दे तन,
बरसे झूम झूम कर सावन।
बन द्रुमराजि साज सब साजे,
बसन हरे, उर उड़े, विराजे,
अलियों, जूही की कलियों की
मधु की गलियों नूपुर बाजे,
घर बिछुड़े आये मन भावन।

जीवन की साधना के विविध चित्रों का यह अलबम निराला के स्वर की गम्भीर वाणी है। इस वाणी में दुरुहता नहीं सहजता है। निराला जी के पहले के गीतों से इधर के गीत इस अर्थ में भिन्न हैं कि भावों के पीछे, अपने पौरुष के कारण कल्पना की तितिलियों को खुलकर खेलने का अवसर नहीं दिया गया है। ये तो सीधे-साधे सरल उद्‌गार हैं और कवि के उन गीतों की चैतन्य वाणी हैं जो नवगति, नवलय, ताल, छंदनव, नवल-कंठ, जलद मंद्र रव, नव नभ के नवविहग वृन्द के स्वर से साकार कभी फूटे थे। यद्यपि भाव अनेक स्थलों पर गम्भीर हो गये हैं जिससे अनेक लोगों को ये गीत भी ठूठे लगेंगे। किन्तु सत्य यह है कि ये ठूठे कहने वाले ऐसे अनेक लोगों ने गीतिका, अर्चना और आराधना के

दर्शन भी संभवतः नहीं किए। किसी की बात पढ़कर अपने शब्दों में उसे रख दिया है, यह तो आज के बड़े लोगों का काम है। किन्तु जो लोग पढ़कर निराला के गीतों को ठूठ समझते हैं, उन्हें मैं इन गीतों की गूंज में रसगुंजित होने के लिए सादर आमंत्रित करता हूँ क्योंकि लिखी बात का वजन मैं जानता हूँ। हाँ, उन लोगों से भी यह कह देना चाहता हूँ जो भारतीय संस्कृति और साधना के पुजारी, बँगला के आधुनिक कुछ कवियों की एवं अंग्रेजी के कुछ कवियों की रचताएँ पढ़ या देख कर हो गये हैं उनसे भी मैं सादर निवेदन करूँगा कि निराला को समझने के लिए भारतीय स हित्य परम्परा का वे कृपा कर अनुशीलन करें। यद्यपि कभी भी मेरा यह दावा नहीं रहा है कि मैं पंडित हूँ, साहित्य का मर्मज्ञ हूँ, किन्तु जो कुछ भी मेरा ज्ञान है, उसके बल पर निश्चय ही यह कह सकता हूँ कि निराला के ये गीत भारत के साधकों की परम्परा की विकास की वह शक्ति हैं जहाँ पर प्रकाश अपने को आहुत कर औरों को ज्योति दान करता है। आत्म-साधना की विशाल भारतीय भाव भित्ति नये रूप में युग के अनरूप इन गीतों में मूर्त्त है। इनकी साधना की गूंज काल और सीमा को पीछे छोड़ देगी, इसमें भी मुझे संदेह नहीं। इन गीतों के सबंध में परिचयात्मक निबन्ध लिखना बहुत बड़े साहस का काम कहा जा सकता है और सम्भवतः मैंने यह साहस अनजाने नहीं, जान कर किया है और इसलिए नहीं किया है कि मैं उन लोगों में हूँ जो वर्तमान कवियों में केवल निराला जी के ही काव्य के भक्त हैं अपितु इसलिए किया है कि यह कर्तव्य था। शक्ति की सीमा होती है, वह सीमा मेरे साथ भी है। लेकिन इसका अर्थ यह मैंने कभी नहीं समझा कि रस जिससे लिया है उसका बखान न करूँ। इसलिए अधिक कि समवेत रूप से पुस्तकाकार छपने के पूर्व उस रस का पान कर सका जो अमृत है और स्वाराष्ट में रमनेवाले की देन है।

[५]

मीराँ-जीवन और साहित्य

मीराँ के सम्बन्ध में हिन्दी में अनेक पुस्तकें लिखी गयीं, सैकड़ों स्थानों पर उनकी चर्चा की गयी। पर अभी तक हिन्दीवालों के हाथ कोई स्वस्थ सामग्री न लगी। इसमें कृतिकर्त्ताओं का दोष नहीं। प्रामाणिक सामग्री का अभाव ही इसके मूल में है। लोक में अत्यन्त निर्मल और आदर्श समझी जानेवाली मीराँ पर धार्मिक उन्माद के वातावरण में उनके समय में ही उनकी भर्त्सना की गयी और आज तक निरन्तर वह दृश्य नयी बातों, नयी कल्पनाओं को प्रस्तुत करने के नशे के कारण हो रहा है। अतएव यहाँ मीराँ के जीवन एवं कृतित्व की एक हल्की रूप-रेखा-खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति से बच कर उपस्थित करना ही अधिक श्रेयस्कर होगा।

जिस समय मीराँ के वर्तमान होने की बात कही जाती है उस समय के सामाजिक वातावरण पर ध्यान देने पर मीराँ के सम्बन्ध में उठायी गयी कुछ आशंकाओं का अपने आप उन्मूलन हो जाता है। पठानों का राज्य तब तक समाप्त हो रहा था और निश्चय ही दिल्ली बाबर के आधीन होने वाली थी। विजेता जाति के लोग स्नेह, प्रताड़ना एवं शासन के बल पर इस्लाम का प्रसार देश में व्यापक रूप से कर रहे थे। दो विरोधी संस्कृतियों का संगम अपनी किशोरावस्था पर था। भारतीय संस्कृति के कर्णधारों ने उसकी जीवनी शक्ति का अनेक अर्थों में तब तक गला घोंट दिया था। शक, शिथियन और हूणों को अपने में पचाकर डकार तक न लेनेवाली संस्कृति मुसलमानों को आत्मसात न कर सकी। धर्म के ठीकेदार ढोंग की चादर ओढ़कर खर्राटे भर रहे थे। देशी राजा घुटने टेक चुके थे। ऐसी परिस्थिति में जाँति-पाँति के बन्धन से समाज ने ढाल का काम लिया। नारी की मर्यादा सुरक्षित न थी। उसके जीवन का सबसे बड़ा शृंगार-सतीत्व खतरे में था। उसकी रक्षा का भार स्वयं जनता ने

उठाया। कठोर पर्दा-प्रथा की व्यापकता और अन्तिम अवस्था में जौहर इस संकट से निवृत्ति के राज-मार्ग बने। जो वर्ग जितना ही सामाजिक प्रतिष्ठा की से उच्च था, उस वर्ग में उक्त साधन उतने ही व्यापक रूप से अपनाया गया। सामन्तों एवं राजाओं के घर नारी असूर्यंपश्या रखी जाने लगीं। मीराँ भी एक ऐसे ही परिवार में उत्पन्न हुई थीं।

मीराँबाई मेड़ते के राठौर दूदा जी के चौथे पुत्र रत्नसिंह की इकलौती पुत्री थीं। दूदा जी के बड़े पुत्र वीरमदेव (जन्म सं० १५३४) और चौथे रत्नसिंह (मृत्यु सं० १५८४) जी थे। मीराँ के जन्म के सम्बन्ध में अनेक तिथियों का उल्लेख विद्वानों द्वारा किया गया है। यदि रत्नसिंह और वीरमदेव के उत्पन्न होने में ६ वर्ष का अन्तर (कम से कम २ वर्ष पश्चात् वीरमदेव के अन्य भाइयों की उत्पत्ति मानी जाय) माना जाय तो उनकी जन्म-तिथि लगभग सं० १५४० के बाद ही पड़ेगी। यदि संभावना और कल्पना तथा जनन-क्रिया को ध्यान में रखा जाय तो मीराँ की जन्म तिथि सं० १५६० के पश्चात् ही पड़ेगी। ऐसी परिस्थिति में मीराँ के जन्म सं० १५६१ मानना ही अधिक समीचीन मेरी दृष्टि से होगा। यह मान्यता पहले से ही समर्थित है। इस मान्यता को सबसे बड़ा समर्थन इस बात से भी प्राप्त हो जाता है कि मीराँ की शादी स० १५७३ में हुई। उस समय उनकी अवस्था बारह वर्ष की थी। इस तथ्य की प्रामाणिकता प्रायः सर्वमान्य है। ऐसी परिस्थिति में यही ठीक जँचता है कि उनका जन्म संवत् १५६१ ही माना जाय।

तलवारों की झंकार के बीच रण सूरमे राजपूतों का हृदय सदैव भक्ति-भावना से भी प्लावित रहा। यद्यपि मीराँ का कोई अपना सगा भाई न था तो भी वीरमदेव के ज्येष्ठ पुत्र का सानिध्य बचपन में मीराँ को प्राप्त था। जयमल की गणना प्रसिद्ध वैष्णव भक्तों में की जाती है। शैशव में माँ की मृत्यु के कारण दूदा जी का स्नेहपूर्ण सानिध्य भी मीराँ को प्राप्त रहा। वे परम वैष्णव भक्त थे। ऐसी परिस्थिति में उनके मन के भीतर जिन महान तत्वों का पल्लवन हुआ वे निश्चय ही वैष्णव-भक्ति की सहज निष्ठा से अनुप्राणित जीवन्त तत्व थे। सामाजिक दृष्टि से उस समय यह परम आवश्यक समझा जाता था कि लड़कियाँ

की शादी छोटी वय में ही कर दी जाय और मीराँ की शादी भी तत्कालीन महान सम्राट महाराणा सांगा के ज्येष्ठ-पुत्र भोजराज जी से की गयी। उस समय मीराँ की आयु बारह वर्ष की थी। कम वय में विवाह की प्रथा उस समय समाज में प्रतिष्ठित थी।

मीराँ के जीवन में यौवन का सन्देश व्यापक विक्षोभ लेकर आया। नयी परिस्थितियों से उन्हें सामंजस्य स्थापित करना पड़ा। जहाँ दूदा और जयमल जैसे परम वैष्णव भक्तों के साथ वे भक्तों का सत्संग करती थीं, उनका दर्शन करती थीं, उनकी बातें सुनती थीं, वहाँ उन्हें घर की जेठ बहू बनना पड़ा। घूँघट डाल कर घर में असूर्यपश्या की भाँति रहने को बाध्य किया जाने लगा। घर पर गिरधर गोपाल कृष्ण के अतिरिक्त दूसरे किसी से भय न खाने की जहाँ शिक्षा नित्य-प्रति उन्हें मिली थी, वहीं हाड़ माँस के पुतले अपने कहे जाने वाले लोगों से त्रास दिया जाने लगा। ननदों, सासों, देवरों का त्रास काल सदृश उन्हें लगा। उन्मुक्त वैष्णव मन ने विद्रोह की रागिनी पर जीवन का स्वर छेड़ दिया। वे विषतुल्य इन परिस्थितियों को अमृत समझ कर पीती गयीं। सम्भव था संघर्ष रत महाराणा साँगा के उदार चरित्र ने इनके लिए साधु सन्तों का दरवाजा सीमित परिमाण में खोल दिया हो, सम्भव था मीराँ के नेह के भर्त्ता भोजराज के कारण व्यापक उत्पीड़न का विधान न किया गया हो, पर त्रास से वे त्रासित थी—ऐसा आभास उनकी कही जानेवाली रचनाओं एवं उनके सम्बन्ध में प्राप्त सामग्रियों से लगता है।

ऐसी ही विडम्बनामय परिस्थिति में, जब उनकी चेतना यौवन के द्वार में प्रविष्ट हो अंगड़ाई ले रही थी, जन्म-जन्म से एकत्र की गयी उनकी साधना की अग्नि-परीक्षा का अवसर आया। समस्त जीवन का वैषम्य शतोन्मुखी हो वज्र की भाँति उन पर एक साथ ही गिर पड़ा। युवराज भोजराज अपनी भक्त सहचरी का साथ छोड़ स्वर्ग के पथिक हुए। राजरानी होनेवाली मीराँ विधवा हुईं। इस वैधव्य का समय सं० १७७५ के आस-पास माना जा सकता है। 'शबनम' जी ने 'मीराँ एक अध्ययन' नामक पुस्तक के द्वारा मीराँ के वैधव्य पर प्रश्न-चिह्न लगाने का सम्भावनामूलक प्रयत्न किया है। पर केवल इसलिए

उनके मत से अपनी असहमति नहीं प्रकट कर रहा हूँ कि साहित्य तथा इतिहास के प्रायः सभी मर्मज्ञ विद्वानों ने मीराँ को विधवा माना है, अपितु इसलिए कि उनके इस प्रश्न पर पर्याप्त मनन और चिन्तन का मेरा निष्कर्ष भी यही है। प्रसिद्ध कथाकार पं० इलाचन्द्र जोशी ने किसी व्यक्ति से प्रेम की बात उठायी है। संभवतः कहानी लिखने की मुद्रा में वे वैसा लिख गए हों या अपनी पुस्तक के नाम की उपादेयता के उद्देश्य से एक मनोवैज्ञानिक व्याख्याकार की भाँति अपने पुस्तक के नाम की सार्थकता सिद्ध करने के लिए उन्होंने ऐसा कर दिया हो, पर 'शबनम' जी की समस्या गम्भीर अध्ययन पर आधृत है भले ही वह नारी सुलभ हो। यहाँ मैं 'शबनम' जी के द्वारा सम्पादित ग्रन्थ से उस पद को लेता हूँ जो उन्होंने पृष्ठ १५१ पर दिया है। यह पद मीराँ सम्बन्धी प्रायः सभी संग्रहों में प्राप्त है। उस पद की दूसरी और तीसरी पंक्ति इस प्रकार है।

गिरधर गास्याँ, सती न होस्याँ, मन मोह्यो घण नामी।
जेठ बहू नहीं राणा जी, थे सेवक हूँ स्वामी॥

सती होने की बात पति के मृत्यु के बाद ही हो सकती है। मीराँ जेठ बहू (बड़ी बहू) थी। जेठ बहू का भी यही अर्थ यहाँ ठीक होता है। जेठ और बहू नहीं। यह अर्थ भी 'शबनम' जी द्वारा किया गया है। हिन्दू-कुल सूर्य के परिवार की जेठ बहू ऐसा आचरण करें, यह न केवल उस परिवार के लिए लज्जा की बात थी, अपितु मेड़ता के लिए भी लोक-हँसाई की बात थी। १६-१७ वर्ष की तरुणी का सती न होना, पति की मृत्यु पर शोकाकुल न होना और उस पर से साधु-संगत और मन्दिर में साधु-सङ्गत करना मध्यकालीन धर्म-भीरु महान-परिवार का शासक वर्ग कैसे स्वीकार कर सकता था।

उस परिस्थिति में राणा सांगा केवल भयंकर चतुर्दिक संघर्ष में ही संलग्न न थे, एक महान संगठन का आयोजन भी भारत भू को स्वतन्त्र करने के लिए व्यापक रूप से कर रहे थे। कहना न होगा कि वह राजपूतों में न केवल सबसे बड़े योद्धा मात्र हुए, अपितु संगठनकर्त्ता भी थे। राणा सांगा के व्यक्तित्व का

दूसरा राजपूत शासक हुआ ही नहीं। निरन्तर आपदाओं के बीच रहनेवाला प्रत्येक व्यक्ति कोई ऐसा स्थान चाहता है, जहाँ अपनी सारी कठिनाइयों, सारी विपत्तियों को भूल कर भावी संघर्ष के लिए चैन का सम्बल एकत्र कर सके। महाराणा कर्मवती को वह इस आलम्बन का उपादान समझते थे। कर्मवती का मूल्य इस दृष्टि से कितना हो सकता है वह तो जीवन संघर्ष में महान उद्देश्यों की प्रतिष्ठा के रक्षार्थ घिरा व्यक्ति ही जान और पहिचान सकता है। कर्मवती उसके लिए वही थी जो महाराज दशरथ के लिए कैकेयी। राणा साँगा प्रायः राजकाज के कार्यों में तल्लीन रहते थे। अन्तःपुर पर कर्मवती का शासन था।

प्रायः अपने सगे पुत्र से स्त्रियों की जितनी ममता होती है उससे अधिक घृणा वह अपने जेठानी और देवरानी के पुत्रों से करती है। कर्मवती इसका अपवाद नहीं अपितु प्रबल समर्थिका थी। उसका जीवन-वृत्त इस तथ्य का साक्षी है। अतएव दुर्दिन के काले बादल मीराँ पर भी मड़राये होंगे। यहाँ तक कि उसकी हत्या तक करवाने का प्रयत्न किया गया होगा। पर मीराँ का बाल भी बाँका न हुआ। आपदाओं की इस भयंकर परिस्थिति में उसके पिता और श्वसुर दोनों सं० १५८४ में स्वर्गगामी हुए। बहुत सम्भव था, राणा सांगा के जीवन-काल में अवरोध मात्र ही मीराँ के जीवन पर लगाये गये हों, भर्त्सना अन्तःपुर तक ही सीमित रही हो क्योंकि विश्वासपात्र सरदार रत्नसिंह का, जिसने राणा सांगा के लिए युद्ध-भूमि पर प्राणोत्सर्ग तक कर दिया, ध्यान राणा सांगा रखते रहे होंगे। ऐसी परिस्थिति में सम्भवतः संकोचवश और अपनी विधवा जेठ बहू की दयनीय परिस्थिति वश राणा सांगा से छिपाकर अत्याचार की कहानी राणा-परिवार के अन्तःपुर में मूर्त्त रूप ग्रहण करती रही हो।

पर १५८८ से १५९२ का शासन कर्मवती के पूर्ण संरक्षण में था। सुयोग्य राणा रत्नसिंह (१५८४-८८) के बाद विक्रमादित्य की (१५८८-१५९२) १४ की आयु इतनी नहीं थी कि वे शासन-कार्य में पारंगत हो उसका संचालन कर सकें। कर्मवती के पीहर वाले इसके सूत्रधार बने। ऐसी परिस्थिति में मीराँ की व्यापक, असहनीय प्रताड़ना प्रारंभ हुई और मीराँ को भयंकर कष्ट दिये जाने लगे।

बीजावर्गी ने, जो तत्कालीन सूत्रधारों के द्वारा प्रतिष्ठ आमत्य था, सूत्रधारों की इंगित पर राणा विक्रमादित्य को आधार बनाकर पशुता का यह नग्न ताण्डव आरंभ किया। मीराँ को मार डालने तक का आयोजन किया गया—ऐसा कहा जाता है। विक्रमादित्य के शासन के अन्तिम वर्ष भयंकर तूफानों और उलट फेर से भरे थे। उसका परिणाम यह हुआ कि सं० १६६१ में जौहर की लपटों में कर्मवती १३००० स्त्रियों के साथ अग्नि की पवित्र लौ में समा गयी। उस समय के पहले ही मीराँ अत्याचार के कारण चित्तौड़ छोड़ चुकी रही होंगी। निश्चय ही विक्रमादित्य के शासनारम्भ के कुछ बाद या सम्वत् १५६१ के पूर्व उन्होंने ऐसा किया होगा। वहाँ से वे अपने पीहर आयीं। उनकी मीठी-बदनामी तब तक चारों ओर फैल चुकी थी। उनके वरदहस्त तब तक उठ चुके थे। संवत् १५६५ में मालदेव ने मेड़ता पर अधिकार कर लिया। तब तक उनका आखिरी सहारा भी टूट गया। वीरमदेव पराभूत हुए और अजमेर में शरण ली। ऐसी परिस्थिति में ऐसा भी संभव है कि मीराँ के लिये राजपूती आन के कारण मेड़ता की जन्म-भूमि का आँचल संकुचित हो गया हो या यह भी संभव है कि वीरमदेव की हार तक मेड़ते में वे रही हों और उसके बाद जीवन की भौतिक विडम्बना के कारण, मर्म के सांघातिक चोट के कारण तीर्थाटन का निश्चय कार्यान्वित किया हो।

वृन्दावन में उसके बाद का उनका समय कटा। विभिन्न तत्कालीन वैष्णव सम्प्रदायों का गढ़ कृष्ण की लीलाभूमि वृन्दावन था। विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों में दाँव पेच चल रहा था। वे अपने सम्प्रदाय का प्रचार किसी भी मूल्य पर करना चाहते थे। चित्तौड़ की इस विधवा रानी पर भी उन्होंने डोरे डाले। सभी वैष्णव सम्प्रदाय हार गये पर उनके बन्धन में मीराँ न बँधी। वल्लभ-सम्प्रदायवाले तो इतने कुढ़े कि भगवद्-भक्त होते हुए भी मीराँ को अपशब्द कह डाले। गोस्वामियों के प्रधान साधक को भी उनके सामने झुकना पड़ा। वृन्दावन में भी स्व की यह महत्तम साधना मीराँ को मँहगी पड़ी, पर प्रियतम के रंग में दिवानी मीराँ राग-रंग में भूले इन लोगों के सामने क्या झुकती? सत्य के साधक अपकर्ष से झुकाये भी तो नहीं जा सकते। वे तो अपने में दिवाने रहते हैं। दिवानी मीराँ वहाँ उनकी मनमानी न सह सकी होगी। उसके चरित पर कलंक

का टीका लगाया जाने लगा। अतएव अपने प्रियतम की लीला नगरी को छोड़कर द्वारिका की ओर गयी। अनुमानतः सं० १६०० के लगभग वह द्वारिका की ओर गत्योन्मुखी हुई होंगी। यह भी सम्भावना है कि मेड़ता और चित्तौड़ के लोग वृन्दावन आते रहे हों। उनके अपने लोग वहाँ भी मीराँ को बांधना चाहते रहे हों, राणा परिवार के लोक-लाज का भय तथा द्वारिका-आकर्षण मीराँ को द्वारिका ले जाने में प्रेरक हुआ हो। कहा जाता है कि वहीं द्वारिका में सं० १६०३ में रणछोड़ जी की मूर्ति में वे समा गयी। इस समाजाने को साहित्यिक अभिव्यंजना मात्र समझना चाहिए। मीराँ की मृत्यु द्वारिका में हुई—इस पर प्रायः विद्वान एक मत है, पर तिथि के सम्बन्ध में १६३० तक मीराँ को लोग ले जाते हैं। मेरी राय में यह समय संवत् १६१० के आस-पास होना चाहिए क्योंकि संवत् १६११ में मेवाड़ में गिरधर लाल की मूर्ति की स्थापना उनके स्मृति को सजीव रखने को की गयी। अतएव १६१० में मृत्यु सम्भव मानना ही ठीक होगा।

मीराँ के सम्बन्ध में प्रचलित अनेक धारणाएँ भक्तों एवं साम्प्रदायिकों द्वारा प्रसारित हैं। तुलसी और मीराँ का पत्र-व्यवहार, तानसेन अकबर से भेंट, अलौकिक गाथाएँ, संत रैदास का गुरु होना सभी की सभी इतिहास के विरोध में ही बैठती हैं, अतएव उन पर अधिक समय देना यहाँ किसी प्रकार की उपादेयता नहीं रखता और न उससे मीराँ का किसी प्रकार का सम्मान बढ़ता है।

निश्चय ही मीराँ भक्तो भक्त, गुणगाथा कारों द्वारा सदैव प्रशंसित होती रहीं उनमें नाभादास, हरीराम व्यास, ध्रुवदास आदि तो केवल भक्त मीराँ की प्रशस्ति तक ही सीमित हैं, प्रियादास ने अनुश्रुतियों को स्थान दिया पर नागरी दास पद-प्रसंग-माला में मीराँ का जो उल्लेख करते हैं, वह ऐतिहासिक मीराँ के कुछ निकट है।

ग्रन्थ—मीराँ के तीन ग्रंथों का उल्लेख किया जाता रहा है पर सत्य यह है कि मीराँ ने केवल पदों की रचना मात्र की है। प्रबन्ध-काव्य के लिए जिस परि-स्थिति, वातावरण और शक्ति की आवश्यकता होती है, वह मीराँ में नहीं दीखती। वे तो भावों में दिवानी प्रेम को प्रगीतों में व्यक्त करनेवाली गायिका मात्र है।

अद्यावधि प्राप्त मीराँ के पदों को आधार बना कर लोगों ने उन्हें विविध साम्प्रदायिक रंगों में रंगने का प्रयत्न किया है। नाथों, वैष्णवों तक से लेकर सूफियों तक का प्रभाव उनकी रचनाओं में देखा जा सकता है, उदाहरण के रूप में विभिन्न पद भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं। पर वस्तु-स्थिति इससे सर्वथा भिन्न लगती है। मीराँ ही एकमात्र अपने युग की ऐसी रचना-शिल्पी हैं, जिन्होंने सर्वत्र सभी परिस्थितियों में 'स्व' मात्र की व्यापक अभिव्यक्ति की है। समाज, प्रकृति और स्वजन-स्नेहियों तथा निर्मम परिस्थितियों के मध्य वे अपने व्यक्तित्व की व्यापक प्रतिष्ठा करती हुई सर्वत्र दीख पड़ती हैं। मीराँ का जीवन स्वत्व की रक्षा के लिए संघर्ष की एक प्रेरणामयी कहानी है। उन्होंने पीहर छोड़ा, राणा का देश छोड़ा, दर-दर लोक-लाज गवाकर घूमती रहीं, तत्कालीन महान् समझे जानेवाले सामाजिक और धार्मिक नेताओं द्वारा भर्त्सना सहती रही, पर 'सावलियां' के प्रेम में व्याकुल हो उसे ढूढ़ँने में न हिचकीं। मध्ययुगीन एक नारी का ऐसा साहस निश्चय ही जिस अटल निष्ठा और विश्वास की सूचना देता है, वह यह भी प्रकट करता है कि ऐसा संघर्षमय व्यक्तित्व कभी भी बन्धन के पिंजरे में नहीं बँध सकता। अपनी भावनाओं को मूर्त्त-रूप देने के लिए भले ही वह सभी पथों पर भटकता दीखे, पर वह इसलिए नहीं कि वह उस पथ से प्रभावित है, अपितु वह इस बात की थाह लेना चाहता है कि ये पथ पथिक को किस सीमा तक साधना को मूर्त्त-रूप देने में सफल हो सकते हैं। मीराँ के संबंध में भी ऐसा ही लगता है। इसका मूल कारण यह है कि विभिन्न वातावरणों में विभिन्न पथों पर लोगों के आस्था की बात का वह परीक्षण करना चाहती थीं। उन पर चल कर अपनी साधना को मूर्त्त करना चाहती थीं, 'प्रियतम प्यारे' को अपने सामने निशि-दिवस लीला करते देखना चाहती थीं। पथ उनका उद्देश्य कभी न था अपितु उद्देश्य तो 'निर्मोही कृष्ण' से महामिलन था। अपने पथ की गौरव-गाथा बढ़ाने के लिए सम्प्रदाय प्रचारक भले ही इस महान जीवन-यात्री का प्रयोग अपने प्रभाव वृद्धि के लिए कर लें, पर निश्चय ही वह साम्प्रदायिक बन्धनों से मुक्त साहित्य की उद्भाविका हैं। अपने हृदय की तरंगों पर जीवन-रागिनी गानेवाली अमर गायिका हैं। यही कारण है कि वैष्णव-वार्ताओं में उन्हें

'राड़' आदि विशेषणों से विभूषित किया गया है। नैहर और ससुराल में ही विभिन्न मतों का प्रभाव उनके ऊपर पड़ा और उसका परीक्षण मर्मान्त-वेदना पर चन्दन लेपित करने के लिए उन्होंने किया। जहाँ तक रैदास के मत का प्रश्न है, उसमें मूर्ति-अराधना का विरोध नहीं, अतएव एक सीमा तक उससे प्रभाव की बात तो समझ में आ जाती है। ऐसी परिस्थिति में जीवन की उन्मुक्त गायिका के रूप में ही उन्हें समझना अधिक श्रेयस्कर होगा। वह कृष्ण और अपने बीच किसी प्रकार का न तो अन्तर समझती थी, न कोई व्यवधान आने देना चाहती थी। वे तो गाया करती थीं, "तुम बिच हम बिच अन्तर नाही, जैसे सूरज घामा।"

साम्प्रदायिक गणों ने अनेक उनके पदों को तोड़-मरोड़ कर अपने लाभ के उपयुक्त बना लिया हो, ऐसी संभावना करना भी असंगत न होगा। प्राचीन पोथियों[1] में जो उनके पद मिले हैं, उनके सम्बन्ध में अधिक आस्था रखी जा सकती है, पर लोक परम्परा से प्राप्त पद बदले के ही हैं। ऐसा भी आभास लगता है कि उन पदों को, जो मण्डलियों में या जनता में उनकी गौरव-गाथा गाने के लिए अज्ञात जन-कवियों द्वारा रचे गये, उनमें भी मीराँ शब्द आ जाने से, मीराँ का ठहराया जाने लगा है। जो पद मीराँ के रहे भी हैं, उनमें लोगों द्वारा बाद में मौखिक परम्परा के कारण परिवर्त्तन भी किया गया है। अतएव उनकी भाषा में अनेक रूपता तथा एक ही पद के अनेक पाठ भी प्रचारित रूप में मिलते हैं। संगीततत्व से युक्त रसमय प्रगीतों के कारण उनके पद अखिल भारतीय महत्व के बहुत समय पूर्व से रहे हैं। विविध स्थानों पर विविध भाषा भाषियों द्वारा संगीत के स्वर-संधान के लिए भी उनमें परिवर्त्तन किए गये होंगे। ऐसी परिस्थिति में मीराँ के प्रामाणिक पदों मात्र का पता लगाना अत्यन्त जटिल कार्य है।

अब तक जितने पद मीराँ के हिन्दी-जगत के सम्मुख आये हैं यदि उनका विषय की दृष्टि से विवेचन किया जाय तो उनमें निम्नलिखित विषयों का

१—शिवसिंह सरोज में मीराँ का जो पद उदाहरण के रूप में दिया गया है, वह मीराँ का नहीं, देव का है।

गुम्फन है :—जीवन संवर्ष, भक्ति—शृंगार, वियोग एवं संयोग, विनय-निवेदन, राम, शंकर, गुरु और कृष्ण आदि साम्प्रदायिक प्रभाव से युक्त पद ।

यदि गंभीरता पूर्वक इन पदों का वर्गीकरण किया जाय तो ऐसा निश्चित आभास लगता है कि विभिन्न सम्प्रदायों के प्रभाववाले पद उनकी प्रारंभिक रचना के अन्तर्गत आयेंगे क्योंकि न तो अधिकांश पद उनमें के मँजे हुए हैं, न भाषा व्यवस्थित है और कहीं-कहीं उनमें भावों का घपला भी मिलता है, अपेक्षा कृत ब्रज भाषा की रचनायें बाद की तथा प्रौढ़ लगती हैं और ऐसा आभास लगता है कि ब्रज भाषा में केश पंडुर होने के समय की प्रौढ़ता पदों में है। अतएव कृष्ण स्नेह की प्रौढ़ रचनाएँ निश्चय ही उनके काव्य की व्यापक सत्ता का उद्‌बोध कराती हैं। कृष्ण को इन्होंने परमेश्वर; प्रियतम; साँवरिया, छलिया, निर्मोही, विश्वासघाती, मनमोहन आदि शब्दों से सम्बोधित किया है। अधिकांश रचनाओं में वे सगे प्रियतम के रूप में स्मरण किये गये हैं। संयोग और वियोग के अनुसार संबोधन में यथोचित परिवर्त्तन दृष्टिगत होता है। माधुर्य-भाव से कृष्ण को जीवन-साथी के रूप में इन पदों में अभिव्यक्त किया गया है। मोहनी मूरति साँवरी सूरति वाला रूप ही मीराँ ने प्रायः सर्वत्र कृष्ण का रखा है। संयोग शृंगार के पद तो उतने ऊँचे न उठ पाये, जितने वियोग के पद। विरह के रूप में प्रियतम के प्रति नारी के उद्‌गार होने मात्र के कारण उनमें हृदय की नैसर्गिक छटा मात्र ही नहीं, उनमें मीराँ के जीवन का सर्वस्व शब्दों में मूर्त्त हो उठा है। प्रत्येक संघर्ष रत हृदय एक ऐसा स्थान चाहता है, एक ऐसा सहचर चाहता है, जिस पर वह पथ की सारी झुँझलाहट, जीवन की सारी पीड़ा, वेदना के समस्त आँसू निरीह रूप से प्रकट कर जीवन के लिए निश्चिन्त हो सम्बल एकत्र कर सके। पर मीराँ ने ऐसा जिसे चुना, वह शाश्वत प्रियतम तथा 'जनम जनम का संघाती' भी विश्वासघाती निकल गया। ऐसी परिस्थिति में जो टीस, जो वेदना, जो पीर मीराँ के मानस में हुई होगी, उसकी कल्पना सहज ही नहीं की जा सकती। वैसी ही असमान्य परिस्थिति में विरह के इन पदों की रचना हुई तथा कृष्ण के प्रति सहज रूप में मीराँ ने

सभी परिचित संभावनाओं की बात कह डाली। कुब्जा और गोपियां तक को नहीं छोड़ा, गोप, गोवरधन और गऊओं को भी नहीं भूली, मुरली और राधा को भी पहिचाना। लेकिन जो कुछ भी शिकायत है मीराँ को वह कृष्ण से है और किसी से नहीं क्योंकि कृष्ण के अतिरिक्त और दूसरा तो कोई उनका था भी नहीं। उपालम्भ अपनों को ही दिया जाता है। मीरों ने भी कृष्ण से कुछ कहने में उठा न रखा। कभी-कभी तो मीरों इतनी खीझ जाती थीं कि कह उठती हैं 'प्रीत न करिजो कोय' और कभी प्राण तक दे देने की बात कहती हैं पर शर्त के साथ। वह यह कि उनका यह रूप उनका प्रियतम देख सके। काग उनको चिढ़ाने आते; बाट जोहते, जोहते दिन गिनते, गिनते मीरों की अंगुलियों की रेखाएँ घिस गयीं तब मीरों उन कागों से कहती है—

> फाड़ि करेजो मैं धरूँ, कागा तू ले जाइ।
> जा देसां म्हारो पिय बसै, वे देखे तू खाइ॥

विरह की इन भावनाओं में केवल पपीहा के पुकार की जलन नहीं, आँसू का सावन-भादों भी है। इन पदों में संघर्षशील शुद्ध हृदय की सहज आस्था जिस निर्मल ढंग से व्यक्त हुई वह कम से कम हिन्दी में आज भी अकेली ही है। बीच-बीच में अन्य वर्णन उन्होंने अभिव्यक्ति को बल देने के लिए किया है, चाहे वह पुराण की गाथा हो, पापी पपइया की बोली हो, चाहे स्मृति से व्यक्त की गयी जीवन की घटनाएँ हों।

जीवन की अभिव्यक्तिवाले पदों में मीरों एक अलमस्त फक्कड़ व्यक्तित्व लेकर ही नहीं आयी हैं अपितु वहाँ पर उनका अक्खड़पन अपनी नयी सीमा बनाता है। पर वह कबीर की भांति मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करतीं। उनमें अपने भावनाओं के प्रति प्राणवान प्रगाढ़ निष्ठा तो है ही, ध्वंस की कालिमा से भी वे मुक्त हैं। जहाँ नारी हृदय कुसुम से भी कोमल होता है, वहीं आवश्यकता पड़ने पर वज्र से भी वह अधिक कठोर हो उठता है। मीरों के जीवन सम्बन्धी पद इस तथ्य के हिन्दी में सर्वोत्तम उदाहरण हैं। जीवन-संघर्ष में मीरों को घर से लेकर बाहर तक भयंकर मोर्चा लेना पड़ा पर उनकी

कविताओं में कहीं भी झुकने की बात नहीं अभिव्यक्त हुई। राजपूतों के आन का सम्मान मात्र ही मीराँ ने जीवन में नहीं किया अपितु उस पर बिना संकोच के आत्मोत्सर्ग भी किया। संघर्ष में भालों, बरछों और तीर, तलवारों के घाव भर जाते हैं पर भावनावों पर की गई चोट चिता पर जल जाने के बाद भी जीवित रहती है। वही अमर स्वर मीराँ के संघर्ष के पदों में अभिव्यक्त हो साकार हो उठे हैं।

जहाँ माधुर्य-भाव से रचना की जाती है, रहस्य की भावना का उद्रेक स्वाभाविक रूप से स्वतः हो जाता है। मीराँ के कुछ पद भी रहस्यवादी रचनाओं के अन्तर्गत सन्निहित किये जा सकते हैं पर उनकी साधना को माधुर्य-भावना मात्र से अनुप्राणित मानना अधिक समीचीन होगा। उनके विनय सम्बन्धी पदों में भी सरसता का पाक है। अनेक प्रगीतों में एक ही भाव की पुनरावृत्ति के दर्शन होते हैं। मीराँ के जीवन में सबसे बड़ा प्रश्न भी एक ही था। एक ही प्रश्न पर अनेक बार एक ही ढंग के भावों का उद्रेक होना स्वाभाविक है और मतवारी मीराँ तो साधु-सन्तों के बीच प्रायः भावों में तल्लीन हो नित्य-प्रति जीवन के गीतों से वातावरण रससिक्त करती रहती थी। पर ये पद कहीं भी उबाने वाले नहीं है अपितु सारस्य उत्पन्न करनेवाले ही हैं।

प्रकृति को भी मीराँ ने अपने भावों के प्रकाशन में आलम्बन के रूप में प्रयुक्त किया है। घिरे बादलों, सावन की बरसा, आमों का बौरना और पपीहे के पी-पी की रट विरही प्राणों में हृदय की चीत्कार बन कर कड़क उठी है। वही तड़पन ऐसे पदों में शब्दमय हो ध्वनित हो उठी है। मीराँ का एक बारह मासा भी मिलता है, जो एक ही पद में बारह महीनों में विरहाकुल मीराँ की स्थिति के अभिव्यक्ति के रूप में है। निश्चय ही ऐसी ही सहज, सरस निर्मल अभि-व्यक्तिवाली कवियित्री मीराँ न केवल हिन्दी में सबसे महान है अपितु भारतीय-साहित्य मन्दिर की वह गौरव पताका हैं। इस तथ्य को तारापुरवाले जैसे सुप्रसिद्ध विद्वान भी मानते हैं।[१]

---

१ सेलेक्शंसन्स आफ दी क्लेसिकल गुजराती लिटरेचर (प्रथम खण्ड)

भारत के इस अप्रतिम कवियित्री की तुलना कुछ लोग महादेवी वर्मा से करते हैं। ऐसी प्रवृत्ति उचित नहीं। मीराँ, मीराँ हैं, और महादेवी, महादेवी। दोनों दो हैं, दोनों का रूप दो है, दोनों की गरिमा दो हैं। आधुनिक युग में कोई बात बड़ी नहीं, पर भक्त लोगों को यह ध्यान रखना चाहिए कि पञ्चरंगमूर्त देवी-देवताओं की इतनी महती गरिमा न गायें जिसका परिणाम यह हो कि लोग उनके सम्बन्ध में सभी कुछ कपोल-कल्पना समझ कर तथोक्त देवी-देवताओं के गुण को भी न जान सकें। यह प्रवृत्ति हिन्दी के मूर्धन्य आचार्यों में भी दीख पड़ रही है जो स्वस्थ साहित्य के विकास में अवरोधक है। मीराँ सभी दृष्टियों से अपने स्थान पर भारती की अप्रतिम साधिका हैं।

जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, उनके पद विभिन्न भाषाओं में मिलते हैं, विशेषकर गुजराती, ब्रज और राजस्थानी में। अधिकांश पदों में तीनों का मिश्रण है। सहज सरल तत्कालीन लोक-भाषा का प्रयोग उन्होंने व्यापक रूप से किया है। *ऐसा करना ही उनके लिए अधिक उपादेय भी था* क्योंकि जिनके बीच ये पद सुनाया करती थीं, वे बहुत बड़े विद्वान या पण्डित नहीं हुआ करते थे अपितु सामान्य जन थे। सुधि में गतवाले भाषा और रूप के पीछे नहीं दौड़ते वे तो भावों के पीछे मतवाले रहते हैं। मीराँ के प्रायः अधिकांश पद राग-रागनियों में बँधे हैं। ये सैकड़ों वर्षों से कन्याकुमारी से कश्मीर तक संगीतज्ञों और भक्तों द्वारा गाये जाते हैं और रहेंगे, अपनी विशिष्टता के कारण।

जाति के जुलाहे थे और ऐसे जुलाहे जो प्रारम्भ में तो हिन्दू थे किन्तु बाद में इनका परिवार मुसलमान हो गया। जनश्रुति के अनुसार कुछ लोगों का कहना है कि यह हिन्दू परिवार में उत्पन्न हुए और मुसलमान परिवार में पाले पोसे गये। डाक्टर बड़थ्वाल की मान्यता है कि "कबीर मुसलमान कुल में केवल पाले ही पोसे नहीं गये थे, पैदा भी हुए थे।" इस बात को भी कुछ लोग मानते हैं कि ये विधवा ब्राह्मणी के पुत्र थे और लोक मर्यादा के भय से अपनी मां द्वारा लहरतारा (काशी) पर फेंक दिये गये तथा नीरू और नीमा ने इन्हें पाला पोसा था। संभव है कबीर के प्रबल विरोध के कारण उन्हें नीचा दिखाने के लिये यह प्रचार उनके प्रबल विरोधियों द्वारा किया गया हो। जो कुछ भी हो यह निर्विवाद रूप से मान्य सत्य है कि किसी मुसलमान परिवार में उनका पालन-पोषण हुआ था। उनका पालन-पोषण हिन्दू भावों से प्लावित काशी के उस वातावरण में हुआ जहाँ के जन-मन में भारतीय संस्कृति का अजस्र निवास है। *कबीर के आचार-विचारों में भी जिस हिन्दुत्व का उद्रेक दिखायी* पड़ता है वह भी इस बात का प्रमाण है कि कबीर हिन्दू संस्कृति के मनोभावों से सर्वथा अनुप्राणित थे। उन्हें इस बात का गर्व था कि वे काशी के थे, भले ही जुलाहा थे। काशी का कण-कण पाण्डित्य की गरिमा से सदैव ही मंडित रहा है। वहां का जुलाहा भी अन्यत्र के ज्ञान गर्वित पंडितों से ज्ञान के क्षेत्र में कम नहीं। इसका उन्हें गर्व भी था। उनके पदों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि काशी के सांस्कृतिक वातावरण से उन्हें एक अन्यतम व्यामोह था और उन्होंने स्वयं कहा है कि "सकल जन्म शिवपुरी गँवाया"। कुछ लोग मगहर में उनका जन्मस्थान बताते हैं, किन्तु ऐसा लगता है कि उनके किसी भक्त ने मगहर के होने के कारण मगहर की महत्ता बढ़ाने की दृष्टि से यह कथा गढ़ी हो। यद्यपि उनका पर्यवसान मगहर में ही हुआ तो भी जीवन के अन्तिम दिनों में काशी आने के लिये उनका जी मचल उठता था और मगहर का निवास वह उसी प्रकार मान उठते थे जिस प्रकार जल के बाहर मीन :—

जोध-जल छाँडि बाहिर भइ मीना।
तजिले बनारस मति भई थोरी॥

इसके अनुसार काशी के प्रति मगहर में भी उनका प्रेम देखा जा सकता है।

कबीर के जन्मादि के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। कबीर का जन्म संवत् १४५५ के जेठ की पूर्णिमा को माना गया है।

> १४५५ साल गये, चन्द्रवार एक ठाठ ठये।
> जेठ सुदी बरसायत को, पूरन वासी तिथि प्रगट भये।
>
> : कबीर चरित बोध :

पर डा० श्यामसुन्दर दास तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसे १५४६ मानते हैं। क्योंकि गणना के हिसाब से ५५ में नहीं ५६ की पूर्णिमा को सोमवार पड़ता है। डा० रामकुमार वर्मा ने १४५५ ही माना है पर डा० बड़थ्वाल की राय में यह जन्म संवत् १४२७ के आसपास है।

गुरु के सम्बन्ध में भी दो विचार हैं। कुछ लोग रामानन्द को कबीर का गुरु और कुछ लोग शेखतकी को उनका गुरु बताते हैं। शेख तकी दो हुए, मानकपुर वाले और झूंसी वाले। झूंसी वाले का सम्बन्ध तो इनसे हो सकता है किन्तु मानकपुर वाले शेख तकी चिश्तिया का इनका कोई भी सम्पर्क नहीं था। झूंसी वाले भी कदापि उनके गुरु नहीं हो सकते। भले ही तकी का उनके साहित्य में उल्लेख होने तथा झूंसी में कबीर नाला होने के कारण उनके मुसलमान भक्त कुरुचिपूर्ण हिन्दू विरोधी भावना के कारण इसके द्वारा आत्मसंतुष्टि करलें और अपने प्रमाण में बाद के अप्रामाणिक ग्रन्थों को प्रमाणस्वरूप भी उपस्थित कर दें, पर वे वास्तव में रामानन्द के ही शिष्य थे। उनकी रचनाओं में जगह जगह राम का उल्लेख इसका प्रमाण है। उनके शिष्य धर्मदास, गरीबदास भी उन्हें रामानन्द का शिष्य मानते हैं। भक्तमाल (संवत् १६४२) हित-हरिवंशव्यास (संवत् १५५६) भी यही मानते हैं। मोहे-सिन-फनी कश्मीरवाले, जिनका उल्लेख डा० बड़थ्वाल ने कबीर एण्ड दि कबीर पन्थ के आधार पर किया है, भी रामानन्द को इनका गुरु बताते हैं। यह इतिहासकार कबीर के सौ-डेढ़ सौ वर्ष बाद हुआ था। इस सम्बन्ध में कबीर का निम्नलिखित पद उद्धृत किया जा सकता है :—

भी होना पड़ा था। कुछ लोग समझते हैं कि वह क्रूर शासक सिकन्दर था, किन्तु वास्तव में वह कोई दूसरा नवाब मालूम पड़ता है।

कहा जाता है कि जीवन के अन्तिम दिनों में कबीर का काशी में उग्र विरोध आरम्भ हुआ है और इस विरोध के कारण उन्हें मगहर की शरण लेनी पड़ी। लेकिन अपने अक्खड़पन के कारण काशी से सतत् व्यामोह होने पर भी उन्हें कहना पड़ा कि 'जो कबिरा काशी मरे तो रामहि कौन निहोर"। मगहर में ही उनका देहावसान हुआ।

कुछ लोग उनकी मृत्यु संवत् १५०५ में मानते है और कुछ उसे १५७५ मानते हैं। दोनों अपने प्रमाण में निम्नलिखित दोहे उपस्थित करते हैं।

> संवत् पन्द्रह सो पाँच मौ, मगहर को किये गवन।
> अगहन सुदी एकादशी, मिलो पवन में पवन ॥ १ ॥
> संवत् पन्द्रह सौ पछत्तरा, कियो मगहर को गवन।
> माघ सुदी एकादशी, रलौ पवन में पवन ॥ २ ॥

डा० बड़थ्वाल इसे १५०५ मानते हैं।

कबीर न तो पढ़े-लिखे थे, न जीवन में उन्होंने कागज और स्याही का स्पर्श ही किया था। उनका उद्देश्य भी काव्य का सर्जन नहीं था। वे तो अपने विचारों और मत के प्रचार के लिए पद रचना करते थे। यह बात उन्हें नाथ-सम्प्रदाय की परम्परा से प्राप्त हुई थी, क्योंकि इसके द्वारा मत प्रचार में सुविधा होती थी। कहा जाता है कि जब कबीर की अवस्था ६४ वर्ष की थी तब उनके शिष्य धर्मदास ने उसका संग्रह किया था। पर वह प्रति अभी तक प्राप्त नहीं हुई है। ऐसे तो कबीर की रचनाओं के कम से कम स्फुट संग्रहों की संख्या ६६ है पर वे पद एक दूसरे से लिए गये अप्रमाणिक और साम्प्रदायिक हैं। क्षिति बाबू द्वारा सम्पादित चार भागों में बोलपुर वाला संग्रह भी अध्ययन के लिए पर्याप्त सामग्री देता है। इसके सौ पदों का कविवर रवीन्द्र बाबू ने अंग्रेजी में भी अनुवाद किया था। संग्रह में दूसरों की रचनाएँ भी कबीर के नाम पर आ गयी हैं। गुरु-ग्रन्थ साहब में संग्रहीत पदों में से अनेक अप्रामाणिक ठहराये

आते हैं इसलिये कि इसमें से एक ही पद कई व्यक्तियों के नाम से संग्रहीत हैं और कुछ पद ऐसे हैं जिनमें कबीर के चमत्कारों का वर्णन भी है, वे सर्वथा अप्रमाणिक जँचते हैं। बीजक यद्यपि प्रामाणिक रचना मानी जाती है तो भी डा० बड़थ्वाल उसको भी पूर्ण प्रामाणिक नहीं मानते क्योंकि स्वामी सुखानन्द आदि की समझी जानेवाली रचनाएँ भी इसमें संग्रहीत हैं। पूरनदास वाला बीजक प्रकाशित बीजकों में सबसे अधिक प्राचीन माना जाता है।

डा० श्यामसुन्दर दास द्वारा सम्पादित तथा सभा द्वारा प्रकाशित कबीर ग्रन्थावली की प्रामाणिकता भी संदिग्ध है। इस सम्बन्ध में डा० बड़थवाल द्वारा उल्लिखित प्रो० ब्लूलेल्लाश का कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस मत को ही पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी अपनाया है। ब्लूलेल्लाश का कहना है कि "सम्पादक ने जो फोटो और प्रतिचित्र दिया है उससे इस बात का पता लगा लेना सरल है कि लिपि की मिति किसी दूसरे हाथ की लिखी है। सम्भव है हस्तलेख के दोनों लेखक समसामयिक ही रहे हों पर बाबू श्यामसुन्दर दास इस समस्या को हल नहीं करते और जैसा मैंने पहले ही कहा है इसे हल करने के लिए मेरे पास भी कोई साधन नहीं है। (बुलेटिन आफ दि स्कूल आफ ओरियंटल स्टडीज, लण्डन इन्स्टूट्यूशन भा० ५ व भा० ६ पृ० ७४६—सम प्राबलमस आफ इंडियन फाइलाजोजी) इस सम्बन्ध में पर्याप्त सावधानी से परीक्षा कर स्व० डा० बड़थ्वाल इस निष्कर्ष पर पहुँचे। "पहले यह प्रथा थी और आज भी देखी जाती है कि लिपिकार पुस्तकों की विशेष भाग वाली प्रतिलिपियाँ कभी-कभी पहले से प्रस्तुत किये रहते थे और उन्हें किसी के हाथ देते समय उनके अन्त में तिथि जोड़ देते थे। इस प्रकार डाक्टर साहब अत्यन्त गम्भीर विवेचना के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "ग्रन्थावली को पूर्णतः प्रामाणिक मान लेने पर भी शंका उपस्थित हो ही जाती है।" यह ग्रन्थावली जिन दो ग्रन्थों पर आधृत है, डा० श्यामसुन्दर दास ने उनका लिपिकाल क्रमशः सं० १६५१ और १८८१ बताया है। इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। इन तीन पुस्तकों में जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है उनमें से भाषा को तथा साम्प्रदायिक हीनता वाले पदों को विद्वानों ने कबीर के

अध्ययन का आधार बनाया है। इसके अतिरिक्त कोई चारा भी तो नहीं? क्योंकि उनके भक्तों ने अपने सम्प्रदाय के अनुसार उनके विभिन्न लीला वाले अनेक पदों तक का भी संकलन उनके नाम से किया है। क्योंकि कबीर के नाम से उसी प्रकार मत-प्रसार में बाद के सन्तों को सहायता मिली होगी जैसी आज राजनैतिक नेताओं को गांधी-नाम से मिलती है। इसलिए इसमें धपलेबाजी लगती है। कबीर के विरोधियों द्वारा भी उनके नाम से अनेक पद बना कर प्रसारित कर दिये गये हों तो भी कोई आश्चर्य नहीं।

कबीर ने जिस समय पदों में अपने मत का प्रचार आरम्भ किया उस समय तक यद्यपि पुरानी हिन्दी 'अपभ्रंश' की रचनाएँ, विद्यापति की रचनाएँ तथा खुसरो की मुकरियाँ हिन्दी की सम्पत्ति बन चुकी थीं, तो भी साहित्यिक दृष्टि से युगान्तकारी महान् रचना की परम्परा बहुत अधिक पल्लवित नहीं हुई थी। कबीर ने साहित्य को आधार बनाया। उन्होंने पदों की रचना अपने मत के प्रचार के लिए की। यह पद रचना की प्रथा उन्हें तत्कालीन समाज में व्याप्त अन्य सम्प्रदायों के प्रचार शैली की देखा-देखी ग्रहण करनी पड़ी, विशेष कर नाथ सम्प्रदाय के हठयोगियों से। समाज में मत प्रचार के लिए पदों की रचना की उपादेयता आज भी संस्थित है क्योंकि उससे लोगों को सहज ही आकर्षित करने में सहायता प्राप्त होती है। पर उस रचना की ओर लोग विशेष रूप से आकृष्ट होते हैं, जिनमें संगीत का तत्व होता है। ऐसा लगता है कि कबीर यद्यपि अनपढ़ थे तो भी पदों में संगीत की महत्ता से अनभिज्ञ नहीं थे। यह संगीत तत्व उन्हें सम्भवतः सतसंग और नाथ-सम्प्रदाय द्वारा प्राप्त हुआ रहा होगा क्योंकि उनके अनेक पदों से संगीत-सौन्दर्य का बोध होता है।

यद्यपि हिन्दी के अनेक विद्वानों का यह अनुरोध है कि कबीर इसलिए एक महान कवि हैं कि उन्होंने जीवन के विराट सत्य की अभिव्यक्ति अपनी रचनाओं में की है। पर केवल सत्य के उद्घाटन मात्र से कोई भी रचना कविता नहीं हो सकती क्योंकि समाचार पत्रों में प्रकाशित समाचार, अर्थशास्त्र के सिद्धान्त, राजनीति के दाँवपेचों के उद्घाटन करनेवाले ग्रन्थ, पद्यबद्ध होनेमात्र से साहित्यिक रचना नहीं समझे जाते। साहित्य में न केवल सत्य का उद्घाटन

होता है अपितु शिव और सुन्दर का संयोग भी होता है। यह संयोग जितना ही रसमय पद्धति पर किया जाता है काव्य उतना ही अनूठा जान पड़ता है। पर कबीर की रचनाएँ, एक विश्वास और ऐसे विश्वास, जिसका सम्बन्ध पूर्णतया साहित्य से नहीं है, के प्रचार एवं प्रसार के लिए लिखी गई हैं। कहीं-कहीं पर इन रचनाओं के भीतर काव्य के तत्वों का दर्शन भी हो जाता है अतएव कवि के रूप में भी कबीर की एकदम उपेक्षा नहीं की जा सकती। पर मत-प्रचारक के रूप में उनका अपना विशिष्ट स्थान है।

इन रचनाओं के विषय हैं, समाज और आत्मसाधना। समाज के निर्माण सम्बन्धी उनकी रचनाओं में वर्ण और वर्गभेद के ऊपर गहरा आक्रमण दिखाई पड़ता है। जातिपांति के प्रति जो संकीर्ण भावना समाज में व्याप्त हो गयी थी उसके प्रति भी विद्रोह की जागरूक भावना के दर्शन कबीर की रचनाओं में होते हैं और वे एक वृहत्तर मानव की कल्पना करते हैं जो एक हैं, जो केवल पाँच तत्व का पुतला मात्र है :—

हिन्दू कहूँ तौ हौं नहीं, मुसलमान भी नाहि।
पाँच तत्व का पुतला, गैबी खेलै माँहि॥

ऐसी रचनाओं के द्वारा साम्य की भावना का प्रचार और प्रसार हुआ जो सामाजिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। साम्य-बुद्धि के प्रसार के लिए कबीर की रचनाओं में एक व्यापक उत्कण्ठा का दर्शन होता है। यथा :—

समदृष्टि सतगुर किया, मेटा भरम विकार।
जह देखो तंह एक ही, साहिब का दीदार॥
समदृष्टि तब जानिये, शीतल समता होय।
सब जीवन को आतमा, लखै एक सी सोय॥

समाज में सत्य-ग्रहण के आग्रह के साथ कुटिल लोगों को भी कबीर ने कोसा है, तथा उनकी भर्त्सना की है।

करनी बिन कथनी कथे, अज्ञानी दिन रात।
कूकुर ज्यों भूकत फिरै, सुनी सुनाई बात॥

पाखण्ड और आडम्बर का तीव्र विरोध तथा सत्य के ग्रहण का आकर्षण भी कबीर की रचनाओं में मिलता है। आडम्बर की पराकाष्ठा, नाहक का भेदभाव, नश्वर मानव की लिप्सा, इन सब के सम्बन्ध में कबीर ने व्यापक दृष्टि से विचार किया है। वे सभी सदवृत्तियाँ जो तत्कालीन समाज के उत्थान के लिए कबीर की दृष्टि में परम आवश्यक थीं, प्रायः उनकी सभी रचनाओं में एक मस्त व्यक्ति की भांति मिलती हैं। अजब की बेपरवाही, फक्कड़पन की मस्ती, आत्म सन्तोष का अनुभव उनकी रचनाओं के अध्ययन से होता है। उन्होंने स्वयं लिखा—

चाह गई चिन्ता मिटी, मनवा बेपराह।
जिनको कछू न चाहिये, सोई साहनसाह॥

दूसरी बात जो हम उनकी रचनाओं में पाते हैं वह उनकी साधना से सम्बन्धित है। कबीर ने जगह-जगह अपनी जीवन की अनुभूतियां को भी समाज के उत्थान के लिए नीति के दोहों में व्यक्त किया है। उनकी कुछ रचनाएँ ऐसी हैं जो मत की साधन से सम्बन्ध रखती हैं। इङ्गला, पिङ्गला, सुषुमा आदि हठयोग से सम्बन्धित पद निःसंकोच किसी दूसरे शास्त्र की सम्पत्ति है, इन्हें लेकर साहित्य के क्षेत्र में भी कबीर की गौरवगाथा गाना कोई साहित्यिक कार्य नहीं है। प्रायः लोग इन पदों को लेकर कबीर के सम्बन्ध में उनकी साहित्यिक महत्ता का गुणगान किया करते हैं। अगर यही स्थिति है तो तमाम उस साहित्य को भी जो हिन्दी में पद्यबद्ध रूप से वाणिज्य आदि के ऊपर मिलता है, साहित्य के अन्तर्गत लेना ही होगा। इधर कबीर के रहस्यवाद की भी काफी चर्चा उठायी गयी। कबीर के उन पदों को, जिनमें उन्होंने ब्रह्म से या सत्पुरुष से अपने हृदय का निवेदन पत्नी के रूप में किया है, रहस्यवाद के अन्तर्गत लिया जाता है। उदाहरण के रूप में नीचे एक रचना दी जा रही है :—

ए अखियाँ अलसानी, पिया हो सेज चलो।
खम्भा पकरि पतंग असि डोले, बोले मधुरी बानी॥
फूलन सेज बिछाय जो राखी, पिया बिना कुम्हलानी।

धीरे पाँव धरो पलंगा पर, जागत ननद जेठानी।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, लोक लाज बिछलानी॥

दूसरी प्रकार की रचनाएँ वे हैं जिनमें अनहद नाद और ज्योतिबिन्द की बात रहस्यमय ढंग से की गयी हैं। इसके भीतर ऐसी रचनायें आती हैं:—

गगन गरज बरसै अमीं, बादर गहिर गभीर।
चहु दिसि दमके दामिनि, भीजै दास कबीर॥

तीसरी प्रकार की रहस्य भावनायें उनके उन पदों में मिलती हैं जिनमें कबीर ने परमात्मा के सान्निध्य के विलक्षण अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की है। इसे वे गूंगे का गुड़ मानते थे। अतएव प्रतीकमयी भाषा में उसे कहते हैं। कुछ विशेष शब्द, विशेष अर्थों के प्रतीक रूप में सर्वत्र प्रयुक्त हुये हैं। यह रहस्य-भावना, कहीं कहीं पर आत्मा के भीतर परमात्मा के खोज सम्बन्धी पदों में भी पायी जाती है। कबीर ने रूपक बांध कर अपनी रहस्यमय वाणियों में अलौकिक-आनन्द आबद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनकी उलटवासियों को भी रहस्यवाद के ही पद लोग बताते हैं। इस सम्बन्ध में चन्द्रबली पाण्डेय का यह मत अत्यन्त समीचीन एवं महत्वपूर्ण है:— 'कबीर का रहस्यवाद प्राय; शुष्क और नीरस है, पर जायसी आदि का ऐसा नहीं। रहस्यवाद के साथ ही साथ अलंकार का विचार भी करना उचित जान पड़ता है। कबीर को अलंकार का ज्ञान नहीं था। साहित्यशास्त्र से ये परिचित नहीं थे। कला का इनमें सर्वथा अभाव है। कबीर के बहुत से पद्य रहस्यवाद के अन्तर्गत नहीं आ सकते, उनमें दर्शन का निदर्शन है। 'वक्रोक्ति' की प्रधानता कबीर में भी है। 'वक्रोक्ति' का अर्थ भाव-विधान के चमत्कारिक ढंग से है। उनका रहस्यवाद प्रायः अध्यव-साय पर ही अवलम्बित है। कुछ मुख्य-मुख्य बातों का कल्पित नाम रखकर कविता करना रहस्यवाद नहीं है। रहस्यवाद का सम्बन्ध भाव से ही है, भाव-विधान से नहीं। कबीर ने पति-पत्नि का रूपक देकर इस जगत को नैहर मान, जीवात्मा को ब्रह्म की पत्नी कहा है। कबीर को कवि न कहना कविता के क्षेत्र को बहुत संकीर्ण करना अवश्य है, परन्तु उनको बहुत महत्त्व देना उलटी धारा

को बहाना है। उनके भावों की अपेक्षा उनाक वाग्वैदग्ध्य ही अधिकतर लोगों को विस्मय में डाल देता है। भाषा तो मनमानी है।"

—माधुरी, वर्ष १० खण्ड १, संख्या ५

यद्यपि कबीर की रचनाओं को उनके व्यक्तित्व की व्यापक अभिव्यंजना है तो भी उनकी शैली नाथ सम्प्रदाय के हठयोगियों की है। उन्होंने साखी और शब्दों में अपने भाव अभिव्यक्त किये हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि गुरु के उपदेशों को ही साक्षी या साखी माना जाता है। दोहे और साखी का ढाँचा एक ही है किन्तु भावनाओं की दृष्टि से साखी दोहे से अलग है। नीति सम्बन्धी तथा साखी से विलग दोहे, दोहरा कहे जाते हैं। पदों को शब्द कहा जाता है। कबीर ने गीतों का भी प्रयोग किया है तथा देहातों में प्रयोग होनेवाले कुछ छन्द कहरवाँ आदि भी उनकी रचनाओं में मिलते हैं। यद्यपि उनको साहित्यशास्त्र का ज्ञान नहीं था तो भी कबीर में अन्योक्ति आदि अलंकारों और अनुप्रासों का दर्शन इतस्ततः हो जाता है। उन्होंने अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए प्रभाववादी तार्किक शैली अपनायी। उनकी यह तर्क शैली उनके अक्खड़पन का प्रतीक तो है ही कहीं-कहीं उसमें चुटीला व्यंग भी है। उन्होंने उलटवासियों की भी सृष्टि की है। उलबासियाँ कबीर के पहले भी लिखी गयी हैं। कहीं-कहीं इनकी उलटबासियों में रहस्य-भावना का भी स्पर्श है।

इनकी भाषा 'सधुक्कड़ी' है। पढ़े लिखे तो ये थे नहीं, छन्द का तो इन्हें ज्ञान था नहीं, अलंकार की सौन्दर्य-गरिमा का इन्हें परिचय तो था नहीं, पर थे बहुश्रुत और बड़े घुमक्कड़। इसलिए जहाँ-जहाँ भी इन्होंने पर्यटन किया सब जगह की भाषाओं में प्रयुक्त होनेवाले शब्दों का प्रयोग इन्होंने किया। यद्यपि ये अपनी भाषा को ठेठ पूर्वी बताते हैं तो भी वह एक विचित्र प्रकार की खिचड़ी है जिसमें सभी भाषाओं के शब्द बेमेल से मिले दीखते हैं। अवधी, ब्रज, खड़ी, पूर्वी हिन्दी, राजस्थानी, पञ्जाबी संस्कृत और फारसी सभी भाषा के शब्द इनकी रचनाओं में मिलते हैं। इसी प्रकार भाषा की दृष्टि से इनकी रचनाएँ महत्वपूर्ण नहीं। इनकी महत्ता तो भावों के अक्खड़पन में है।

कबीर अपने समय के अक्खड़, फक्कड़, मौलिक क्रान्तिदर्शी तथा समाज सुधारक के रूप में हमारे सामने आते हैं। इनके द्वारा जनजीवन का कल्याण हुआ है। मध्यकाल में एक क्रान्ति का सर्जन हुआ है, जिसके लिए भारत उनका ऋणी है। सम्भव है काव्य की दृष्टि से उनकी महत्ता न हो लेकिन कवि के रूप में भी अपने मौलिक अनुभूति जन्य भावों के कारण कबीर का एक अच्छा खासा स्थान है।

कहा जाता है कि सूरदास से सम्राट अकबर की भी भेंट हुई थी और अकबर ने उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया था।

"मूल चौरासी वार्ता" तथा 'अष्ट सखान की वार्ता' में इस बात का वर्णन है। कहा जाता है कि तानसेन जब संवत १६२१ में अकबर के दरबार में आया, उसने सूरदास द्वारा रचित एक पद सुनाया और उसी ने सूरदास और अकबर के मिलन का प्रबन्ध भी किया। तानसेन की दृष्टि में सूरदास का क्या महत्त्व था यह उसके द्वारा रचित इस पद से ज्ञात हो जाता है:—

"किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर को पीर।
किधौं सूर को पद सुन्यो, तन मन धुनत सरीर॥"

ऐसा समझा जाता है कि यह भेंट संवत १६३२ में मथुरा में हुई थी, जिसमें सूरदास ने अकबर को अपने दो भजन सुनाये थे।

"मना रे तूँ कर माधो से प्रीति" और "नाहीं न रह्यो मन में ठौर"

दूसरा पद सूर ने तब सुनाया जब अकबर ने अपने गुणगान के लिये कोई पद सुनाने का आग्रह सूर से किया।

कुछ लोगों का ऐसा मत है कि सूरदास जी जन्मान्ध थे। इसकी पुष्टि में वे उनके पदों को प्रमाण रूप में रखते हैं। पर हिन्दी के प्रायः सभी सुलझे हुए विद्वानों का मत है कि जन्मान्ध व्यक्ति जीवन के विविध उपकरणों का उस सूक्ष्मतापूर्वक विवेचन अपने काव्य में नहीं कर सकता जिस प्रकार का वर्णन सूरदास ने किया है। इस सम्बन्ध में अनेक जनश्रुतियाँ भी प्रचलित हैं। ऐसा कहा जाता है कि युवावस्था में किसी स्त्री के प्रेम के कारण सूर ने आँख स्वयं फोड़ लीं। यह वार्त्ता भी प्रचलित है कि सूर अपनी अन्धावस्था में किसी कुएँ में गिर गये थे, जिनमें छः दिन तक पड़े रहे। सातवें दिन किसी ने उन्हें कुएँ से निकाला और उसे ही सूर ने कृष्ण भगवान समझ लिया। पर जब वे हाथ छुड़ा कर जाने लगे तब उन्हें बड़ी ग्लानि हुई और कहा जाता है कि निम्नलिखित दोहा उन्होंने कहा—

बांह छुड़ाये जात हौ, निबल जानि के मोहिं।
हिरदय से जब जाहुगे, सबल बखानों तोहिं॥

नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट के अनुसार सूरकृत ग्रन्थों की संख्या सोलह है। श्री द्वारिकादास पारिख ने इनकी संख्या उन्नीस बतायी है। इन ग्रंथों का विवेचन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि इनमें अनेक रचनायें या तो सूरसागर से ली गयी हैं या प्रक्षिप्त है, या किसी दूसरे इस नाम के कवि की लिखी हुई है। बहुत समय तक हिन्दी के विद्वान यह मानते रहे हैं कि सूरसागर, सूरसारावली और साहित्य लहरी ही सूर की प्रामाणिक रचनायें हैं। सूरदास नामक ग्रन्थ में डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने ऐसी सम्भावना प्रकट की है कि केवल सूरसागर ही सूरदास की प्रामाणिक रचना हैं। लेकिन हिन्दी के अनेक विद्वान साहित्य लहरी को भी सूरदास की ही रचना मानते हैं। जिनमें मुन्शी राम शर्मा और पारिख आदि हैं। दोनों पक्षों के तर्क इतने अकाट्य हैं कि इस सम्बन्ध में निश्चित रूपसे कोई निर्णय नहीं दिया जा सकता। साहित्य लहरो दृष्टकूट पदों का संग्रह है जिसमें रस, नायिका भेद, एवं अलंकार आदि का वर्णन है। इस रीति प्रधान रचना के ११८ वें पद में कवि-वंशावली दी गयी है। जिसके कारण हिन्दी समीक्षकों का ध्यान इधर आकृष्ट होता है। यह पद निश्चित रूप से बाद का जोड़ा हुआ है। सूरसारावलो होली के वृहत् गान के रूप में कही गयी रचना है जिसमें ११०७ छन्द हैं और प्रत्येक छन्द दो-दो पंक्ति के हैं। ये नीरस तो हैं ही, इनमें साहित्यिक गुणों का अभाव भी है। डा० ब्रजेश्वर वर्मा के अनुसार यह सूर की रचना नहीं है। लेकिन हिन्दी के अधिकांश विद्वान् इसे सूर की ही रचना मानते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार यह सूरसागर की अनुक्रमणिका है। यह एक स्वच्छन्द रचना मालूम पड़ती है. जो सूरसागर में वर्णित भावों की संक्षिप्त रूप से दूसरी रचना शैली में पृथक् अभिव्यक्ति है।

यदि ये दो रचनायें सूर की नहीं भी हैं तो उनकी महत्ता में किसी भी प्रकार कमी नहीं पड़ती। सूरसागर सूरदास की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना है। कुछ लोगों का कहना है कि सूरसागर में सवालाख पद थे किन्तु आद्यावधि जितने पद प्राप्त हुए हैं, वे दस हजार तक भी नहीं पहुँचते। सम्भव है उनके अनेक पद अभी बेठनों में बंधे पड़े हों। फिर भी उनकी संख्या

दस हजार से अधिक पहुँचनी सम्भव नहीं, न यही सम्भव जान पड़ता है कि सूर ने इतनी रचनायें रची भी होंगी। एक लाख पद के समर्थक न केवल अपने तर्क के प्रमाण स्वरूप जनश्रुति की बात कहते हैं अपितु सूरसारावली का निम्नलिखित पद भी प्रमाण स्वरूप रखते हैं—

ता दिन से हरि लीला गाई, एक लच पद बन्द,
ताको सार सूरसारावलि, गावत अति आनद।

"एक लक्ष पद बन्द" में कोई लच का अर्थ लाख, कोई उद्देश्य, कोई "पद बन्द" का अर्थ एक पूर्ण पद से, कोई पंक्तियों से लगाकर नाहक अपना समय नष्ट करता है। जहाँ से यह पद लिया गया है उसकी भी प्रामाणिकता अभी संदिग्ध है।

चौरासी वार्ता में स्पष्ट लिखा है "सूरदास ने सहस्रावधि पद किये हैं, ताको सागर कहिये, सो सब जगत में प्रसिद्ध भये"। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी तथा श्री वल्लभाचार्य क्रमशः इन्हें पुष्टि मार्ग का जहाज और भक्ति का सागर बतलाया करते थे। बहुत कुछ सम्भावना है कि सूरसागर इसीलिए सूर के पदों के संकलन का नाम पड़ा।

गीत काव्य की जिस परम्परा का प्रवर्त्तन जयदेव और विद्यापति ने किया उसी में श्रीकृष्ण चरित का गान ब्रज के भक्त कवियों ने भी गाया। सूरदास को वल्लभाचार्य जी के मत के निर्देशानुसार श्रीमद्भागवत की कथा को ही अपने काव्य का विषय बनाना पड़ा। इन्होंने भागवत के दशम स्कन्ध की कथाओं का सविस्तार वर्णन किया है। शेष स्कन्धों की कथा अत्यन्त संक्षेप में कहते गए हैं। इन पदों में सर्वाधिक आश्चर्य-चकित कर देनेवाली बात यह है कि ब्रज भाषा की प्राय प्रथम साहित्यिक रचना होने पर भी इसमें इतनी सरसता है, इतनी मार्मिकता है, शृङ्गार और वात्सल्य रस का इतना परिपाक है कि रीवाँ नरेश महाराज रघुराजसिंह समस्त कवियों की कविता को सूरदास जी का जूठन बतलाते हैं। वे अपने जीवन में अपनी प्रतिभा के बल पर काफी ख्याति और यश प्राप्त कर चुके थे। इय पूर्व ही स्पष्ट किया जा चुका है :—

"'रघुराज'' और कविगन की अनूठी उक्ति,
मोहि लगै जूठी, जानि जूठी सूरदास की ॥''

सूरदास ने जो कुछ भी लिखा है उसमें इस प्रकार लीन हुए हैं कि उनके हृदय से भाव का जो स्रोत फूटा है उसमें सभी काव्य रसिक डूब कर रसास्वादन करते हैं। सूरसागर वात्सल्य, शृङ्गार, भक्ति, विनय की अपूर्व उक्तियों से परिपूर्ण हैं। वात्सल्य और शृङ्गार का उन्होंने जैसा वर्णन किया है वैसा अन्य कोई कवि नहीं कर सका। एक-एक चेष्टाओं, एक-एक मानसिक वृत्तियों, एक-एक बाल-लीलाओं का वर्णन इतनी सूक्ष्मता पूर्वक किया गया है कि साहित्य में मनोवैज्ञानिक सत्यमात्र के उपासक भी दाँतों तले अंगुली दबा लेते हैं। एक-एक वृत्तियों का कई बार वर्णन किया गया है किन्तु प्रत्येक में नूतन रस, नवीन भाव-भंगिमा और अप्रतिम मनमोहनी क्षमता है। यशोदा, नन्द, बालकृष्ण जिस किसी भी चरित को उन्होंने स्पर्श किया है वे अमर हो उठे हैं। बाल-चेष्टाओं का सामर्थ्यपूर्ण वर्णन करने में संसार में स्यात ही कोई कवि इतना सफल हो सका हो।

जहाँ तक शृंगार का प्रश्न है, वहाँ संयोग और वियोग दोनों प्रकार के शृंगारों का वर्णन सफलता के साथ सूर ने किया है। यद्यपि शृङ्गार वर्णन में वासना भी बीच-बीच में आ धमकी है पर कहीं भी कुरुचिपूर्ण अश्लीलता पंख नहीं फटकार पायी है। उसका हृदय पर कोई विकृत प्रभाव नहीं पड़ता। वियोग शृङ्गार में कवि की सारी प्रतिभा एक स्थान पर केन्द्रित सी होती दीख पड़ती है और भ्रमरगीत के अन्तर्गत विरह की सभी दशाओं का वर्णन किया गया है, जिससे कठोर से कठोर हृदय भी करुणार्द्र हो उठता है।

प्राय लोग सूर और तुलसी की तुलना एक दूसरे से करते अघाते नहीं और कोई तुलसी और कोई सूर को बड़ा बताता है। वस्तुस्थिति यह है कि दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, हिन्दी की दृष्टि से। एक राम-भक्त कवियों का सिरमौर है दूसरा कृष्ण-भक्तों का दोनों का। क्षेत्र अलग-अलग है। तुलसी ने लोक जीवन का व्यापक क्षेत्र काव्य के लिये चुना और जनजीवन को इतना अधिक प्रभावित किया जितना बुद्ध के बाद कोई नहीं कर सका था। सूर का क्षेत्र तो

वात्सल्य और शृङ्गार ही था। वहाँ पर उनका वही स्थान है, जो लोक मानस के कवि के रूप में तुलसीदास का है।

सूर दो रूप से हमारे सामने आते हैं। पहला रूप तो उनका वह है जब वह पुष्टि सम्प्रदाय से प्रभावित नहीं हुए थे और दूसरा रूप वह है जब वह उसके प्रभाव में आ गये थे। प्रारम्भ में उनकी भक्ति का स्वरूप सेवक-भाव का था, बाद में वही सखा-भाव का हो गया। पुष्टि सम्प्रदाय में कृष्ण की बाल-लीला, राधा और कृष्ण का प्रेम प्रसंग तथा गोपियों का प्रसंग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। यदि सूर के पदों का विषय के अनुसार वर्गीकरण किया जाय तो वह इस प्रकार होगा।

१—विनय के पद, २—अवतार की कथायें, ३—कृष्ण की लीलायें, ४—दार्शनिक पद। विनय के पदों में संत-महिमा, गुरु-महिमा, सत्सङ्ग-वर्णन तथा भगवान के प्रति भक्त का आत्मसमर्पण है। अवतार के अन्तर्गत सभी अवतारों का संक्षिप्त वर्णन है। कृष्णलीला के अन्तर्गत, बाल लीला, गोचारण, दान-लीला, मुरली-माधुर्य और मान है। सम्पूर्ण सूर-साहित्य गीतात्मक है।

विनय के पदों में दैन्य और कारुण्य भाव से अपने इष्टदेव के प्रति सूर का आत्मसमर्पण अन्तर्निहित है। उनमें करुण हृदय की वेदना भरी पुकार है।

कृष्ण लीला के अन्तर्गत वात्सल्य रस की प्रधानता है। कवि का हृदय इतना सरल और विशाल दीखता है कि कभी तो वह बाल कृष्ण बन जाता है, कभी वह सखा बन जाता है, कभी मां यशोदा की वाणी में बोलता है, कभी नन्द की वाणी में बोलता है पर सबसे बड़ी उसकी विशेषता यह है कि वह न केवल रूप मात्र से तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करता है अपितु अविच्छिन्न रागात्मक सम्बन्ध भी स्थापित कर लेता है। इन मनोहारी चित्रों का दर्शन सूरसागर में कहीं रूप-सौन्दर्य, कही चेष्टा-सौन्दर्य, कहीं क्रीड़ा, कहीं मानसिक और कहीं संस्कार उत्सव आदि में स्पष्ट दीखता है। कवि ने इन सौन्दर्य चित्रों के स्फुरण में लौकिक और अलौकिक दोनों पक्षों का ध्यान सर्वत्र रखा है।

कृष्ण के उस रूप का वर्णन भी, बड़ी सजगता और निपुणता के साथ, जिसमें कृष्ण सामान्य लड़कों की भांति अपराध करके बातें बनाते पाये जाते हैं, अत्यन्त मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है।

मैया मैं नहिं माखन खायो।
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायौ।
देखो तुही छींके पर भाजन, ऊँचे धरि लटकायौ।
तुही निरखी नान्हें कर अपने मैं कैसे कर पायौं॥
मुख दधि पोंछ बुद्धि इक कीनी, दौना पीठ दुरायौ।
डारि साँटि मुसुकाई यशोदा, स्यामहि कंठ लगायौं॥
बाल-बिनोद मोद मन मोह्यो, भक्ति प्रताप देखायौ।
"सूरदास" यह जसुमति कौ सुख सिव-बिरंचि नहि पायौ॥

बाललीला के उनके सभी पद प्रायः इसी टक्कर के हैं। कृष्ण की तरुणावस्था की प्रेम लीलाओं का वर्णन भी कवि ने किया है। राधा तो प्रेम की साकार प्रतिमा हैं हीं, गोपियों का भी उनके प्रति अगाध प्रेम है। इस सम्बन्ध में उनके प्रेम का वर्णन अपना सानी नहीं रखता। वे कृष्ण के विरह में व्याकुल होकर उस प्रकार छटपटाती हैं जिस प्रकार जल के बाहर मीन। साथ ही गोपियों के विरह वर्णन में प्रेम की प्रतिमूर्ति गोपिकाओं द्वारा निर्गुण सम्प्रदायवादियोंकी जो भर्त्सना है, वह भी भारतीय-साहित्य में अपना सानी नहीं रखती। विरह के स्थलों में कवि की अभिव्यक्ति इतनी सरल और रसमय हो गयी है कि सूर साहित्य का अध्येता बिल्कुल रस में डूब जाता है।

सूरदास गीत-काव्य के गायक हैं। उनकी सभी रचनायें गेय हैं। वे अच्छे संगीतज्ञ भी थे। उनके पदों में संगीत की स्वर लहरी की अमिट झंकार है। यह गीत काव्य का एक आवश्यक गुण है। उनकी यह गीत-शैली न केवल जयदेव, विद्यापति, चंडीदास और कबीर से अनुप्राणित है अपितु उसपर लोक में गाये जानेवाले भाषा के पदों का भी प्रभाव है। सूर के उन पदों पर जो पुष्टिमार्ग में आने के पूर्व लिखे गये हैं उनपर कबीर आदि की संत भावधारा का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। उनके बाद के पदों पर जयदेव और विद्यापति का प्रभाव है।

इसे केवल प्रभाव मात्र ही समझना चाहिए। क्योंकि परम्परा से प्राप्त गीतों की शैली पर सूर ने अपने व्यक्तित्व की मुहर लगा दी है। उनकी शैली सजीव, स्वाभाविक, चित्रमय तो है ही, भावों की व्यंगपूर्ण गम्भीरता में वह जयदेव और विद्यापति से बहुत आगे हैं। अलंकार, उत्प्रेक्षा, विषय की नवीनता, रस का परिपाक, सभी कुछ उनकी रचनाओं में इस स्वाभाविक ढंग से आया है कि कहीं भी कोई तत्व बोझिल नहीं बन पाया है। मिश्रण की यह बारीकी हिन्दी के अन्य किसी भी कवि में नहीं मिलती। उनकी ब्रजभाषा संयत, सुव्यवस्थित और गठी हुई है। उसका प्रवाह, सहज, स्वाभाविक और भावों के अनुरूप प्राणवान तो है ही, माधुर्य और प्रसाद गुण से परिपूर्ण भी है। उन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों का, ब्रजभाषा के ठेठ शब्दों का, फारसी, अवधी, पंजाबी, गुजराती तथा बुन्देलखंडी शब्दों का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है। किन्तु भाषा का प्रवाह कहीं भी नहीं रुकता। कहीं कहीं व्याकरण की अशुद्धियां मिलती हैं, पर वे नगण्य सी हैं।

उन्होंने कहीं कहीं शब्दों को तोड़ा मरोड़ा भी है पर बाध्य होकर। मुहावरे और लोकोक्तियों का व्यवहार भी उन्होने अपनी रचनाओं में किया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सूर का भाषा पर भी अच्छा अधिकार था।

यद्यपि सूरदास का काव्य क्षेत्र तुलसी की भांति व्यापक नहीं था तो भी ब्रज भाषा के कवियों में उनका स्थान अप्रतिम है। हिन्दी को उनकी देन अप्रतिम है। उनकी रचनाएँ पुष्टि मार्ग के सम्प्रदायिक वातावरण में रची गयी है तो भी उन्मुक्त हिन्दी की वे अमर निधि हैं।

[८]

तुलसीदास और उनका साहित्य

यद्यपि रामानन्दी सम्प्रदाय के भक्तगण लोक में पुरुषोत्तम राम की प्रतिष्ठा में दत्त-चित्त हो लगे थे, तो भी तुलसीदास के पूर्व तक इतनी बड़ी किसी प्रतिभा का दर्शन इस सम्प्रदाय में नहीं हुआ, जो रामानन्द द्वारा प्रशस्त मार्ग को जन-मन के हृदय पर अंकित कर सके। यह महत्तम कार्य तुलसीदास ने किया और इस भाँति किया कि इनकी सामर्थ्य का दूसरा व्यक्तित्व इनके बाद आज तक हुआ ही नहीं। तुलसी ने दशरथ के राम को अमर बनाया। जब तक हिन्दी साहित्य रहेगा, तब तक तुलसी के राम रहेंगे। इनकी महत्ता का परिचय इसी बात से जाना जा सकता है कि विश्व में तुलसीदास के नाम से जितने लोग परिचित हैं, सम्भवतः अन्य किसी साहित्यकार के नाम से नहीं। अपढ़ लोग जहां रामायण की चौपाइयों को ब्रह्म वाक्य समझते हैं, वहीं महान साहित्य-मर्मज्ञ उनके काव्य-कौशल की प्रशस्ति में शब्द नहीं पाते। विश्व की अन्य-भाषाओं में तुलसीदास के रामायण का जिस स्तर पर अनुवाद सम्मानित हुआ; हिन्दी की किसी भी अन्य कृति का नहीं। विदेशी विद्वान भी इन्हें अप्रतिम मानते हैं। ग्रियसन इन्हें भारत में बुद्ध के पश्चात सबसे बड़ा लोक नायक तथा स्मिथ ने मुगल-काल का महानतम व्यक्ति बताया है। ग्रीब्स नामक एक अधकचरे हिन्दी के ज्ञाता ने अपनी पुस्तक 'ए स्केच्च आव हिन्दीलिटरेचर' में कवि के रूप में शेक्सपीयर को तुलसीदास से महान ठहराने का प्रयत्न किया है। पर सत्य यह है कि इंगलैण्ड में शेक्सपीयर और बाइबिल दोनों का जो मूल्य है, वही हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र में तुलसी-साहित्य का है।

तुलसीदास अत्यन्त विनय-सम्पन्न सदाचारी भक्त थे। उन्होंने अपने विषय

में जो कुछ कहीं-कहीं कहा है, उससे उनके जीवन-वृत्त की स्पष्ट रूप-रेखा ज्ञात करना संभव नहीं। साम्प्रदायिकता, झूठी लिप्सा तथा नवीन अनुसंधानों द्वारा स्वयं को आभूषित करने के लिए कुछ नवीन बातें ढूंढ़ निकालने की प्रवृत्ति ने तुलसीदास के जीवन-वृत्त को इस भांति आच्छन्न कर लिया है, जिस भांति किसी गुप्त स्थान में छिपी हुई सम्पत्ति को तत्संबंधी अनेक जन-श्रुतियाँ। थोड़े-थोड़े समय के बाद नवीन-नवीन ग्रंथों का पता चल रहा है, नयी-नयी बातें कही जा रही हैं, पर जिन आधारों को लेकर ऐसा किया जा रहा है, उन आधारों की प्रामाणिकता के परीक्षण की ओर, दुर्भाग्य है, लोग ध्यान नहीं दे रहे हैं। संभव है, उनके जीवन के सम्बन्ध में जो नया साहित्य प्राप्त हुआ है, उसमें किसी कृष्णमुखी व्या-पारी की भांति उसी प्रकार पुराने कागज का उपयोग किया गया हो जिस प्रकार पुरानी बहियो में किया जाता है, पर लिखावट और स्याही का पुरानापन तो जाना ही जा सकता है। जाल जाल ही है।

विगत कुछ वर्षों में तुलसीदास के जीवन-वृत्त पर जो नयी खोज हुई है, वह पुरानी खोजों के सर्वथा विपरीत है, पर सर्वमान्य कोई भी नहीं। सभी ओर से अपनी बात के लिए अकाट्य प्रमाण उपस्थित किये गये हैं, ऐसी परिस्थिति में सत्य का पता लगाना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि हठवादिता के भी स्पष्ट दर्शन इन विचारों में होते हैं।

शिवसिंह तुलसीदास का जन्म सं० १५८३ मानते हैं। उन्होंने वेणीमाधव कृत मूल गोसाईं चरित देखने की बात भी लिखी है। किन्तु प्रकाशित मूल गोसाईं चरित में, जिसकी प्रामाणिकता अत्यन्त संदिग्ध है जन्मतिथि सं० १५५४ है। महात्मा रघुबरदास रचित तुलसी-चरित में भी, जिसकी सूचना हिन्दी जगत को इन्द्रदेव नारायण ने 'मर्यादा' द्वारा दी थी, उनका जन्म १५५४ माना गया है। डा० ग्रियर्सन तुलसीदास का जन्म सं० १५८९ मानते हैं। डा० माताप्रसाद गुप्त भी ग्रियर्सन के मत के समर्थक हैं। पं० रामगुलाम दूबे भी यही सम्वत् प्रामाणिक मानते हैं। बहुत समय तक यह बात सर्वमान्य थी कि परासर गोत्र के ये सरयूपारीण ब्राह्मण थे, तथा बांदा जिलान्तर्गत राजापुर के पं० आत्मा दूबे के पुत्र थे। इनकी माता का नाम हुलसी था।

राजापुर के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है । कुछ लोग इसे सोरों मानते हैं और उन्होंने उसके लिए पर्याप्त प्रमाण भी एकत्र किया है, यथा रत्नावली-रचित दोहावली, नन्ददास का भाई होना, नन्ददास का गुरु भाई होना, नन्ददास के पुत्र कृष्णदास की रचनाएँ तथा चौरासी वैष्णवों की वार्ता आदि का भी उल्लेख इस प्रसंग में किया जाता है ।

कहा जाता है कि मूल-नक्षत्र में उत्पन्न होने के कारण माता-पिता ने इन्हें त्याग दिया था और बचपन में इन्हें दर-दर की ठोकरें खानी पड़ीं। बाल्यावस्था इनकी ऐसी भयंकर परिस्थिति में होकर गुजरी कि इन्हें दर-दर की ठोकरें खानी पड़ी, पेट भरने के लिये लोगों से भिक्षा मांगनी पड़ीं । ये बातें तो निर्विवाद रूप से सत्य हैं क्योंकि स्वयं, तुलसीदास ने इन तथ्यों का उल्लेख अपनी रचनाओं में किया है :—

"मातु-पिता जग जाय तज्यो विधिहूँ न लिखी कछु भाल भलाई ।"

कवितावली

यहाँ तक कि पेट भरने के लिए उन्हें जाति कुजाति, सभी लोगों के सम्मुख हाथ फैलाना पड़ा :—

"जाति के सुजाति के, कुजाति के पेटागिन बस,
खाए सबके, विदित बात दुनी सो ।

अन्न के दाने-दाने को तरसना पड़ा, उसे ब्रह्म, अर्थ काम सभी कुछ मानना पड़ा । इसके पश्चात् इन्हें बाबा नरहरि का संरक्षण प्राप्त हुआ । लोगों का कहना है 'कृपा सिन्धु नररूप हरि' इन्हीं के सम्बन्ध में लिखी गयी है । नरहरि-नरहर्यानन्द ही थे ऐसा लोग मानते हैं । नरहर्यानन्द रामानन्द की परम्परा में माने जाते हैं और अयोध्या के सम्प्रदायों की परम्परा में तुलसीदास आते हैं । श्री प्रेमलता जी का बृहद् जीवनचरित्र इस प्रकार की गुरुपरम्परा का उल्लेख करता है:—रामानन्द, सुरसरानन्द, माधवानन्द, गरीबानन्द, लक्ष्मीदास, गोपालदास नरहरिदास, तुलसी । यह भी अनुमान लगाया जाता है कि इन्हीं नरहरिदास से शूकर क्षेत्र में तुलसीदास ने राम-कथा सुनी थी और इनके

द्वारा ही इनमें रामभक्ति के प्रति आस्था का भाव जाग्रत हुआ था। विनय-पत्रिका के पद के आधार पर ऐसा आभास होता है कि यौवनोचित रूप लिप्सा की भावना इनके भीतर जगी थी और इन्होंने उसमें रस भी लिया था :—

लरिकाई बीती अचेत चित, चंचलता चौगुनी चाय।
जोबन जर जवती कुपथ्य करि, भयो त्रिदोष भरिमदन बाय॥

स्थान-स्थान पर इन्होंने जो वर्णन किया है, उससे ऐसा विदित होता है कि स्त्री सम्पर्क में ये रहे हैं और शादी आदि के सम्बन्ध में इनका सूक्ष्म निरीक्षण इनके साहित्य में व्याप्त है। जनश्रुति के अनुसार इनकी शादी रत्नावली से हुई थी। उनके प्रेम-पाश में वह इस तरह आबद्ध थे कि क्षण भर के लिए भी अपने आँखों से उन्हें ओझल होने देना नहीं चाहते थे। कहा जाता है कि एक बार वह नैहर चली गयीं। भयङ्कर कष्टों का सामना करते हुए तत्काल वह वहाँ पहुँचे। उनकी स्त्री ने उनकी इस कामुकतापूर्ण भावना की तीव्र भर्त्सना की और यह दोहा सुनाया :—

लाज न लागत आपको, दौरे आयहु साथ।
धिक-धिक ऐसे प्रेम को, कहा कहौं मैं नाथ॥
अस्थि चर्म मय देह यह, तासे जैसी प्रीति।
तैसी जौ श्री राम महँ, होति न तौ भव-भीति॥

यह बात तुलसीदास के जीवन के लिए नयी चेतना का सन्देशवाहक बन बैठी। प्रिया द्वारा मिली फटकार विराग में परिवर्तित हो गयी। माया-जन्य चंचलता की क्षमता उन्हें ज्ञात हुई और उसके बाद अविलम्ब काशी चले आये। इस लोक-वार्ता की पुष्टि भक्तमाल, तुलसी-चरित और गोसाईं-चरित से भी होती है। इधर रत्नावली दोहा संग्रह नाम की एक पुस्तिका मिली है, जिसके आधार पर तुलसीदास के जीवन पर प्रकाश पड़ता है यद्यपि इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता अभी वास्तविक कसौटी पर नहीं कसी गयी है। अभी तक पं० गोविन्दवल्लभ पंत के पास सुरक्षित है। इसका लिपिकाल सं० १८७९ है। इसके द्वारा यह ज्ञात होता है कि रत्नावली का विवाह १२ वर्ष की अवस्था में

हुआ था। १६ वर्ष में गौना और संवत् १६२७ में रत्नावली-त्याग की घटना घटती है। रत्नावली के दोहे इस प्रकार हैं।

जासु दलहि लहि हरषि, हरि हरत भगत भव-रोग।
तासु दास पद दासि है, 'रतन लहत कत सोग॥
बसे बारही कर गह्यो, सोरहि गौन कराय।
सताइस लागत करी, नाथ 'रतन' असहाय॥
सागर कर रस ससि 'रतन' संवत मो दुखदाय।
प्रिय-बियोग जननी मरन, करन न भल्यो जाय॥
मोइ दीनों संदेश पिय अनुज नंद के हाथ।
'रतन' समझि जनि पृथक मोइ सुमिरत श्री रघुनाथ॥

यह सामग्री सोरों के प्रसंग को लेकर हिन्दी जगत के सामने आयी। इसका ध्येय तुलसीदास को नन्ददास का अग्रज प्रमाणित करना भी था। यह पहले ही निवेदन किया जा चुका है कि तथोक्त सामग्री की प्रामाणिकता संदिग्ध है।

नारी द्वारा लगी ठेस ने जिस भक्ति का प्लावन तुलसी के मानस में किया वह भक्ति भावना दिनोत्तर विकास के असीम पथ पर बढ़ती गयी। इसके पश्चात नाना तीर्थों का परिभ्रमण इन्होंने किया। काशी, चित्रकूट और अयोध्या से इनकी ममता हो गयी। ये स्थान इन्हें अत्यन्त प्रिय भी थे। इनके जीवन का अधिकांश काशी में व्यतीत हुआ। काशी की प्रशस्ति में इन्होंने लिखा है :—

मुक्ति जनम महि जानि, ज्ञान खानि अघहानि कर।
जहं बस शंभु भवानि, सो काशी सेइय कस न॥

और चित्रकूट तो उनकी दृष्टि में राम से सच्चा स्नेह प्रदाता ही है :—

तुलसी जो राम सौं सनेह साचों चाहिये।
तौ सेई ए सनेह सौं विचित्र चित्रकूट सों॥

अयोध्या में तो इन्होंने हिन्दी साहित्य के अमर रत्न 'रामचरित-मानस' की रचना ही की।

जिसका बचपन लललाते, बिललाते दर-दर भिक्षा मांगकर बीता, जिसके यौवन पर वैराग्य की विभूति लेपित हो गई, जिसको लोगों के सामने दाँत चियारना पड़ा उस तुलसीदास का अन्तिम समय भी सुखकर न व्यतीत हुआ। सम्भवतः विधाता का यह उन्हें सबसे बड़ा वरदान था। काशी में ऐसा आभास लगता है, इनका पर्याप्त विरोध हुआ। कहा जाता है पहले ये प्रह्लाद घाट पर रहते थे। विनय-पत्रिका की रचना इन्होंने गोपाल मन्दिर के पिछवाड़े एक छोटे कमरे में की। वहां एक पट लगा हुआ है। लेकिन बाद में इन्हें इन स्थानों को छोड़ना पड़ा और अस्सी पर रहना पड़ा।

जिस व्यक्ति ने जीवन भर अभाव से संघर्ष कर विश्व की फूटी आंखों में ज्योतिदान करने का सफल प्रयत्न किया, उसकी परीक्षा लेने अन्तिम दिनों में रोग आदि आए। तुलसी ने उनसे भी संघर्ष किया, अपनी भक्ति के सहारे। उन्होंने किसी वैद्य की नहीं, राम, शंकर और हनुमान की आराधना की, ताप से निवृत्ति के लिए। उदर, बाहु-शूल आदि से तो वे जर्जर हो ही गए थे, प्लेग का भी उन्हें शिकार होना पड़ा। इस जर्जर परिस्थिति में अधिक दिनों जीवित रहना सम्भव न था और सं० १६८० में उनका देहावसान काशी में हो गया। इस सम्बन्ध में यह दोहा प्रसिद्ध है :—

संवत सोलह सौ असी, असी गंग के तीर,
श्रावण कृष्णा तीज शनि, तुलसी तज्यो शरीर।

इस दोहे में दी गयी तिथि अत्यन्त प्रामाणिक लगती है, क्योंकि तुलसी के मित्र टोडर के परिवार वाले इसी तिथि को उनके नाम पर सिद्धा देते हैं।

विशाल भारत में छपा यह अंश तुलसी पर नया प्रकाश डालता है।

"कवि अविनासराय कृत इस तुलसी प्रकाश में लिखित उक्त तिथियों के आधार पर गोस्वामी तुलसीदास का जन्म संवत १५६८ वि० की श्रावण शुक्ला ७ सप्तमी शुक्रवार को हुआ। दस मास की अवस्था होने के पश्चात् उनकी माता हुलसी का और हुलसी से लगभग एक मास पश्चात उनके पिता का परलोकवास हुआ। ७ वर्ष ११ मास २२ दिन की आयु में श्री तुलसीदास अपने गुरु श्री नृसिंह

(नरहरि) की पाठशाला में प्रविष्ट हुए। २१ वर्ष ३ मास ४ दिन की आयु होने पर उनका विवाह एवं ३६ वर्ष दस दिन को आयु में वैराग्य हुआ। ५२ वर्ष की आयु पर्यन्त तीर्थाटन करने के पश्चात काशी में निवास करने लगे। ६३ वीं वर्ष में श्रीरामचरित मानस का लेखन प्रारम्भ किया। ७६ वर्ष की आयु से लेकर ८६ वर्ष की आयु पर्यन्त यमुना और संवत् १६५७ वि० के कार्तिक मास में काशी निवास करने चले। पयस्विनी नदी के संगम के समीप राजा नामक साधु की कुटी पर गये। निवास करते हुए उस कुटीको 'राजापुर' रूप में परिणत किया। आशा है इतिहास एवं साहित्य प्रेमी विद्वान पाठक इन तिथियों पर ध्यान देंगे।"

विशाल भारत मई, १६५४ के अंक में यह निष्कर्ष श्री भद्रदत्त शर्मा ने 'तुलसी-प्रकाश' के आधार पर निकाला है। जब तब मूल न देखा जाय इसे प्रामाणिक मानना ठीक न होगा।

यद्यपि नागरी प्रचारिणी के खोज विभाग की रिपोर्ट के द्वारा उनकी ३७ रचनाएँ प्राप्त हुई हैं पर नागरी प्रचारिणी सभा ने केवल १२ ही ग्रन्थ उनमें से उनके प्रमाणिक माने। शेष, दूसरे तुलसी नाम धारियों का है। हिन्दी के प्रायः सभी समर्थ आलोचक इन्हें मात्र ही प्रमाणिक मानते हैं डा० रामकुमार वर्मा ने "कलिधर्माधर्म निरूपण" को भी प्रामाणिक ठहराया है। उनके मान्य प्रामाणिक ग्रन्थों के नाम निम्नलिखित हैं:—

१. रामचरित मानस, २. वैराग्य-संदीपिनी, ३. रामलला-नहछू, ४. बरवै रामायण, ५. पार्वती मङ्गल, ६. जानकी मङ्गल, ७. रामाज्ञा प्रश्न, ८. दोहावली, ६. कवितावली, १०. गीतावली, ११. कृष्ण गीतावली, १२. विनय-पत्रिका।

रामचरित मानस—सभी दृष्टियों से हिन्दी के इस सर्वोत्तम, प्रबन्ध काव्य का प्रणयन सं० १६३१ में अयोध्या में आरम्भ हुआ। कवि ने स्वयं लिखा है:—

संवत् सोरह सै इकतीसा, करौं कथा हरि पद धर सीसा।

इस ग्रन्थ में सात काण्डों में राम की कथा विस्तारपूर्वक कवि ने ६६०० छन्दों में गायी है। जिनमें चौपाइयों की संख्या ५१०० और शेष दोहा, सोरठा आदि हैं। वर्णिक और मात्रिक दोनों छन्दों का प्रयोग इस ग्रन्थ में किया गया है।

वर्णिक छन्दों में—अनुष्टुप, रथोद्धता, स्त्रग्धरा, मालिनी, तोटक, वंशस्थ, भुजंग-प्रयात, नग स्वरूपिणी, वसंत लतिका, इन्द्रवज्रा, और शार्दूल विक्रीणित तथा मात्रिक छन्दों में:—सोरठा, तोमर, हरिगीतिका, चौपाई, त्रिभंगी आदि १८ छन्दों का प्रयोग हुआ है।

वैराग्य संदीपिनी—दोहा, चौपाई तथा सोरठा छन्दों में रचित ६८ छन्दों का यह संग्रह है। इसके विषय हैं:—ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, शान्ति तथा सन्तों के लक्षण आदि।

रामलला नहछू—विवाह और यज्ञोपवीत संस्कार के अवसर पर औरतों के लिए गाये जाने के हेतु लिखे गये सोहर छन्दों में २० पदों का संग्रह है।

बरवै-रामायण—सात काण्डों तथा अलंकार योजना प्रधान ६९ बरवै छन्दों में लिखे गये इस ग्रन्थ में स्फुट रूप में राम की कथा वर्णित है।

पार्वती मङ्गल—१६८ छन्दों में लिखित इस पुस्तक का विषय राम और सीता का विवाह-वर्णन है।

रामाज्ञा प्रश्न—शकुन विचार के लिए लिखी सात अध्यायों में यह पुस्तक है, प्रत्येक अध्याय में ४९ दोहे हैं तथा इन दोहों में भी राम कथा वर्णित है।

दोहावली—भक्ति और नीति के ५७३ दोहों का यह संग्रह है, जिनमें से अनेक दोहे तुलसीदास की अन्य रचनाओं से संग्रहीत किये गये हैं।

कवितावली—६३७ कवित्त, सवैया घनाक्षरी और षटपदी छन्दों में इस ग्रन्थ में राम-कथा वर्णित है। इस ग्रन्थ से तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं कवि के जीवन की हल्की झलक इतस्ततः मिलती है। राम का शौर्य वर्णन इस ग्रन्थ में अद्वितीय है। भाषा ब्रज है।

गीतावली—राग-रागिनियों से समाविष्ट सात खण्डों में तथा ३३० छन्दों में सूर सागर की शैली पर इस ग्रन्थ का प्रणयन हुआ है। राम के सौन्दर्य-सुषुमा का वर्णन तुलसीदास ने इस ग्रन्थ में किया है।

कृष्ण गीतावली - ब्रज-भाषा में रचित कृष्ण सम्बन्धी शृंगार-रस प्रधान ६१ स्फुट पदों का संकलन यह रचना है।

विनय-पत्रिका—यह राग-रागिनियों से युक्त विनय के अप्रतिम पदों का संग्रह है। देवी देवताओं, राम और शंकर की सेवक-भाव से की गयी वन्दनाएँ इसमें संकलित हैं। ज्ञान, वैराग्य, संसार की नश्वरता आदि के सम्बन्ध में रससिक्त कवि हृदय का अनभूत आत्म-निवेदन इस ग्रन्थ में संकलित है।

तुलसीदास के प्रादुर्भाव के समय का समाज सभी दृष्टियों से संक्रमण-कालीन था। सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से सामान्य लोगों का जीवन विपन्न था। ऐसे लोग तत्कालीन समाज में सामाजिक दृष्टि से उन्नत समझे जाते थे जो विलासिता के गर्त में गोते लगा रहे थे। उन्हें अवकाश नहीं था कि आँख खोलकर उस समाज के प्रति कोई सर्जनात्मक कार्य करें जो महामारी दारिद्र और रोग से आक्रान्त था और जिसके जर्जर कन्धों पर बड़ों की वैभवशालिनी विलासिता नृत्य कर रही थी। उन्हें तो अपनी रंगीन दुनिया चाहिये थी; संसार उनके विलास की केवल सामग्री मात्र था।

मध्यकालीन मानव अत्यन्त धर्म-भीरु होता था। उसे धर्म पर इतनी आस्था होती थी कि वह उसे जीवन की सबसे बड़ी सम्पत्ति समझता था। यह लोक तो उसका म्रियमाण ही था, वह परलोक की चिन्ता में निराशा को आशा की स्वांस बधाता था। जिन लोगों के हाथों में इस क्षेत्र में बागडोर थी, उनमें या तो अनेक गद्दीदार पण्डित थे, जिनका धर्म इतना कमजोर था कि स्पर्श मात्र से टूट जाता। वे उसकी उसी प्रकार रक्षा कर रहे थे जिस प्रकार घूँघट के भीतर कोई रमणी अपने रूप की। उन्हें जन-जीवन से कुछ नहीं लेना था। उनके यहाँ अहं की भावना इतनी अधिक व्याप्त हो गयी थी, जितनी मादकता के अधिक सेवन से। वे खर्राटे ले रहे थे। वे दूसरों को कोस कर, म्लेच्छ कहकर अपने को समेटकर, आँख बन्दकर कुछ विद्यार्थियों पर अपनी शास्त्रीय विद्वता की धाक जमाने में ही तल्लीन थे। वे जाति-पांति, छुआछूत के बन्धन को कठोर बना रहे थे। दूसरे ऐसे लोग समाज के ठेकेदार थे, जो कहीं ठिकाना न लगने पर सर मुड़ा-मुड़ा कर सन्यासी हो जाते थे। भारतीय परम्परा रही है कि वह ब्राह्मण को जगतगुरु और सन्यासी को ब्राह्मण गुरु मानता आया है। विश्व का यह सर्वोत्तम पद सन्यास के द्वारा तो उन्हें प्राप्त

हो ही जाता था। भेष की माया में फँस लोग उनका सम्मान तो करते ही थे. नीच समझी जानेवाली जाति उन्हें महात्मा मान बैठी थी। टोटका, टोना और छूमन्तर का जादू नीच समझी जानेवाली जातियों पर जमकर चलने लगा। कबीर का सारा प्रयत्न उनके जीवन के बाद समाप्त हो गया, यद्यपि उनकी परम्परा में बाद में अनेक अच्छे सन्त हुए। दूसरे कबीर के मत में पुनर्निर्माण की क्षमता नहीं थी। अवशिष्ट को ध्वस्त कर वह नया निर्माण करना चाहते थे। वह फोड़े की चिकित्सा नहीं, अपितु अंग को ही ध्वस्त करना चाहते थे, जो भारत में सम्भव नहीं, क्योंकि यहाँ विशाल समन्वयवादी दृष्टि-दर्शन ही सफल हो सकता है। गद्दियाँ बँटने लगी, चेले मूड़े जाने लगे, मूर्ति-पूजा के विरोधी कबीर के मूर्ति की पूजा भगवान् समझकर की जाने लगी। औलियावादी भैरवी-चक्र चलने लगा। यद्यपि यह चक्र बहुत दिनों से चल रहा था, फिर भी अब नये रूप में यह चला। सूफियों की सरलता भी भारतीयों का मन मुग्ध न कर सकी। सम्राट अकबर ने कहीं का ईंट कहीं का रोड़ा जोड़कर दीन-इलाही धर्म चलाया। उसमें जीवन नहीं, चेतना नहीं और न थी मृतप्राय जीवन को अमृत देकर जीवित करने की शक्ति। उधर ब्रज की ओर अत्यन्त सुन्दर मन मुग्धकारी कृष्ण के रूप पर वैष्णव भक्त संगीत की स्वर-लहरी में खो रहे थे। कमनीय कृष्ण की चारुता में समाज को वे डुबाना चाहते थे. उससे ही उन्हें सन्तोष लाभ करना चाहते थे। पर उनका यह सामाजिक उपचार उसी प्रकार का था जिस प्रकार पीड़ा से आकुल होने पर कोई चिकित्सक ऐसी वस्तु का सेवन कराये जिसके नशे में पीड़ित पीड़ा भूल जाय। वहाँ भी गद्दीदारी का झगड़ा था। बिट्ठलनाथ की ड्योढ़ी कभी बन्द की जाती, कभी बंगाली पुजारी मार भगाये जाते, कभी वेश्याओं से नृत्य कराया जाता। राग-रंग तभी भाता है जब व्यक्ति का मन शान्त हो। भूखे रहनेवाले भजन नहीं करते वह गोपाल हों या राम हों। यद्यपि रामानन्द स्वयं बहुत बड़े क्रान्तदर्शी और भविष्य-द्रष्टा थे, पर उनके मत को कोई ऐसा समर्थ प्रसारक नहीं मिला जैसा अन्य मतों को। इसलिए वह संकुचित रूप से जी रहा था क्योंकि उसमें जीवन-शक्ति थी।

ऐसी ही परिस्थियों में तुलसीदास का आविर्भाव हुआ। तुलसी ने जगत देखा था, जीवन देखा था, उनके पैरों बेवाय फटी थी। लोक मे व्याप्त पीड़ा का उन्हें अनुभव था, उसके प्रति उनमें सहानुभूति थी, उसका उन्हें कष्ट था। वे जहाँ एक ओर समस्त जग को सियाराममय जानकर पूजा करनेवाले व्यक्ति थे वहीं चातक की भांति निष्ठा भी उनमे थी, ऐसी निष्ठा जो सदैव सर हथेली पर रखकर चलती है। उन्होंने समाज को देखा और समझा था, बाहर से नहीं उसके भीतर रहकर। उनके भीतर निर्माण की मेधावी प्रतिभा थी। नाना शास्त्रों और पुराणों का तथा भाषा के प्राकृत ग्रन्थों का उन्होंने अध्ययन, मनन एवं चिन्तन तो किया ही था, भुक्तभोगी होने के कारण वे समाज के लिए 'सुन्दर' का मान भी समझते थे। नह रूप की माया से भी परिचित थे। इन सबका प्रभाव, उनके मेधावी प्रतिभा सम्पन्न जीवन में एक नयी चेतना लेकर आया। चेतना की ऐसी लहर मंगलमय समन्वयग्राही इतना बड़ा तत्व प्रस्फुटित हुआ जितना विश्व के इतिहास में ढूँढ़े भी नहीं मिलता। निर्गुण और सगुण में भेद न मानकर भी उन्होंने लोक की आवश्यकता का अनुभव कर ऐसे राम की प्रतिष्ठा जन-जीवन में की जो युग के राक्षसों को ही नहीं, दशानन रावण को भी पदलुण्ठित कर सकने की सामर्थ्य रखता है। जो सुन्दरता में अपना सानी न रखने पर भी आपदा आने पर पर-उपकार के लिए अपना कुसुम-सा हृदय वज्र बना सकता है। वे कबीर और सूर के एकांगी मार्ग की पूर्णता बनकर आये। समाज को राक्षसों से बचाने के लिए उन्होंने वानरी वृत्ति तक के लोगों के भीतर उनकी सोयी शक्ति का उदबोध कराया। वे पण्डित और विद्वान थे। इसलिए तथाकथित पण्डितों को भी उन्होंने अपनी अप्रतिम समन्वयवादी प्रतिभा से चकित कर दिया। तुलसीदास में निर्माण की अभूतपूर्व क्षमता थी। तत्कालीन सामाजिक ढांचे को, जो जर्जरावस्था में था, उन्होंने संजीवनी बूटी पिलायी। वे निर्माण में विश्वास रखनेवाले अत्यन्त मर्यादावादी जीव थे। उन्होंने वर्णाश्रम धर्म का पुनः उज्ज्वल रूप सामने रखा। इस वैज्ञानिक सामाजिक प्रणाली का उन्होंने विशिष्ट ढंग से जीर्णोद्धार किया। जीवन को विनष्ट करनेवाली वृत्तियों से उन्होंने संघर्ष किया था। वे इन्द्रियजित भी थे।

उन्होंने लोक में व्याप्त माया, काम, क्रोध के विनाशकारी प्रभाव की भर्त्सना की। रामराज्य की उनकी कल्पना आज के युग में भी सामाजिक चेतना का प्रतीक है। उन्होंने लोक में आदर्श नारी की प्रतिष्ठा भी की। उन्होने रामानन्दी सम्प्रदाय का अनुगमन नहीं किया, उसको एक नया रूप दिया। उन्होंने नवीन-जीवन-दर्शन दिया, नया दृष्टिकोण दिया, नयी चेतना जगायी। पर सभी कुछ साहित्यकार की भाँति, मतवादी प्रचारक की तरह नहीं।

लोक कल्याण करके भी व्यक्ति अगम कल्याण की महत्तम साधना कर सकता है, तुलसी इस बात के प्रतीक हैं। उन्होने आत्म कल्याण की साधना भी केवल अपने तक ही सीमित नहीं रखी, संसार को उन्होने उस पथ का पता भी बताया, उस पर चलने की प्रेरणा भी दी। वे असज्जनों की वंदना भी करके कभी उनके सामने झुके नहीं। इतने विशाल व्यक्तित्ववाले जन कल्याणकारी, आत्म-द्रष्टा, क्रान्तदर्शी तथा समन्वयवादी कवि का उस युग में प्रादुर्भाव न केवल भारत के लिए गौरव की बात है अपितु समस्त मानव-समाज के लिए आदर्श प्रेरणादायिनी सम्पत्ति है।

तुलसीदास वर्णाश्रम-व्यवस्था की प्रतिष्ठा में विश्वास रखनेवाले व्यक्ति थे। उन्होंने उसकी प्रतिष्ठा में अपने साहित्य द्वारा अभूतपूर्व योग दिया। भारतीय जीवन की सर्वाधिक दृढ़ भित्ति पारिवारिक जीवन है। पारिवारिक जीवन की ऐसी आदर्श प्रतिष्ठा तुलसीदास ने की कि हिन्दी का अन्य कोई साहित्यकार नहीं कर सका। पारिवारिक जीवन की आदर्श प्रतिष्ठा ही रामराज्य के मूल में है। उन्होंने लोगों को दिखाया कि जरा भी पारिवारिक मर्यादा में विकृति आने पर सारा-का-सारा घर कलह, दुख और अशान्ति का अखाड़ा बन सकता है। लोक में व्याप्त सारी मर्यादा विनष्ट हो सकती है। कैकेयी का कोप, विभीषण का रावण के प्रति विद्रोह और बालि तथा सुग्रीव इसके उदाहरण हैं। इस कार्य में उन्हें पूर्ण सफलता भी मिली। उन्होंने जिन चरित्रों का निर्माण किया है वे अजर अमर तो हैं ही साथ ही, एक आदर्श की प्रतिष्टा करते हैं जो लोकजीवन को मङ्गलमय बनाने में सहायक होता है।

जहां उन्होने शील, शक्ति और सौंदर्य के आगार मर्यादा-पुरुषोत्तम लोक-

रक्षक राम की कल्पना की है, वहीं भरत और लक्ष्मण जैसे आज्ञाकारी सच्चरित्र भाइयों की भी कल्पना की है, सीता जैसी सात्विक सहचरी की कल्पना भी उन्होंने नहीं छोड़ी है। राम की पूर्णता इन लोगों के अभाव में अपूर्ण रह जाती। रावण के साथ ही साथ उन्होंने मंदोदरी जैसी भारतीय नारी का चित्र भी उपस्थित किया है। सूर्पणखा की कल्पना को भी वे नहीं छोड़ सके हैं। हनुमान जैसे लोकसेवक भक्त को भी वे भुला नहीं पाये हैं। इस भांति इतने विविध किन्तु पूर्ण अन्योन्याश्रित चरित्रों का चित्रण उन्होंने रामायण में किया है जितने चरित्र एक साथ हिन्दी के किसी भी ग्रन्थ में दिखायी नहीं पड़ते। अन्यत्र भी यदि कहीं दिखायी पड़ेंगे तो इस अन्योन्याश्रित आदर्श-प्रतिष्ठा के साथ नहीं। यह लेखक की अप्रतिम विशेषता है।

राजनीति से लेकर वेदान्त-दर्शन तक उनकी रचनाओं में आता है और सब क्षेत्रों में उनकी नयी सूझ बूझ अपना एक मौलिक छाप देती है पर सर्वत्र मर्यादित रूप में। उनके सभी पात्र मर्यादा और विशेषकर भारतीय मर्यादा से अनुप्राणित होकर चलते हैं। सीता का एक चित्र यहां दिया जा रहा है जो राम का परिचय सीता से पूछे जाने के उत्तर के रूप में हैं।

तिन्हहिं बिलोकि बिलोकत धरनी। दुहुँ सकोच सकुचत बर बरनी॥
सकुचि सप्रेम बाल मृगनयनी। बोली मधुर बचन पिकबयनी॥
सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नाम लखन लघु देवर मोरे॥
बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी। प्रभु तन चितै भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नैननि। निज पति तिन्हहिं कहेउ सिय सैननि॥
राम का रूप भी सीता कंगन के नग की परछाईं में निहारती हैं।
राम को रूप निहारत जानकी, कंगन के नग की परछाहीं॥
याते सबै सुधि भूल गई, कर टेकि रही, पल टारति नाहीं॥

यद्यपि सूर की भाँति बाल-सौन्दर्य का उतना सूक्ष्म निरीक्षण उनमें नहीं, पर जो कुछ लिखा है वह अत्यन्त गौरवशाली है।

उनके साहित्य में सभी रस आये हैं। सबका परिपाक हुआ है। यद्यपि वे

भक्ति के ही उपासक थे, पर वीर, श्रृङ्गार, हास्य, सभी कुछ उनकी रचनाओं में अत्यन्त उच्च कोटि का मिलता है।

उनके विनय के पद तो इतने सुन्दर बन पड़े हैं कि ऐसा आभास होता है कि पाठक के हृदय की बात उन रचनाओं में फूट पड़ती है। उनमें हृदय की व्यापक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति है।

तब तक प्रचलित काव्य-पद्धतियों एवं रचना-विधानों में उन्होंने अपनी रचनाएँ की हैं और इतना व्यापक समन्वय इस क्षेत्र में भी किया है कि जितना व्यापक किसी भी रचनाकार के साहित्य में दिखायी नहीं पड़ता।

नीति उपदेश की सूक्ति पद्धति, सूफियों की दोहा-चौपाई; वीर-श्रृंगार की छप्पय पद्धति, विद्यापति और सूरदास की गीत पद्धति, गंगा आदि चारण कवियों की कवित्त सवैया पद्धति, सभी का निखार उनकी रचनाओं में मिलता है। वे विद्वान और पण्डित तो थे ही, संस्कृत के भी कवि थे। उन्होंने संस्कृत में भी अच्छी रचना की है। उन्होंने अवधी और ब्रज दोनों में रचनाएँ की हैं और उनका संस्कृत साहित्यिक रूप ही इनकी रचनाओं में मिलता है। भाषा की निखार की दृष्टि से भी उनकी हिन्दी के लिए देन अत्यन्त मूल्यवान है। कहीं-कहीं फारसी के शब्द भी उनकी रचनाओं में आ गये हैं।

यद्यपि वे सभी विचारों के सारग्राही समन्वयवादी भक्त कवि हैं, पर उन्हें सियाराम मय भक्ति का रूप ही ग्राह्य था और उससे ही लोक-मङ्गल की सिद्धि उनके काव्य का सर्वत्र विषय है।

सियाराम मय सब जग जानी।
करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी॥

भारतेन्दु

जीवन में उदार होना और उदार होकर ज्योति जगाना विरले पुरुषों का काम हुआ करता है। 'यदा यदादि धर्मस्य' के अनुसार समय पर ईश्वर का अवतरण होता है। उसी प्रकार युग की मांग पर कभी महाराणा प्रताप, कभी तुलसी और कभी राजाराम मोहन राय उत्पन्न हुआ करते हैं। भारत में युग-निर्माता समय-समय पर अनेक होते रहे है जिन्होंने युग को दृष्टि-दान दिया है। भारतेन्दुजी भी ऐसे ही युग-विधायक साहित्यकारों में से एक थे।

आपका जन्म काशी में संवत् १९०७ की ऋषि पञ्चमी को एक सम्भ्रान्त कुल में हुआ था। आपके पूर्वज दिल्ली से कलकत्ता आकर रहने लगे थे। कम्पनी के शासन-काल में ही ऐसा हुआ था। यहाँ वे व्यापार करते थे। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पिताजी का नाम गोपालचन्द था। ये ब्रज भाषा के अच्छे कवि थे। गिरधरदास इनका उपनाम था। ये परम वैष्णव थे। इनके दो ही प्रिय कार्य थे, कविता बनाना और पूजा-पाठ करना। कहा जाता है कि ये पाँच भक्ति-पद बनाये बिना खाना नहीं खाते थे। ऐसे ही विद्वान् भक्त कवि की सन्तान थे, भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी।

भारतेन्दुजी प्रतिभा-सम्पन्न बालक थे। होनहार बीरवान के होत चीकने पात की भाँति उनकी विलक्षण प्रतिभा बचपन में ही उस समय दिखायी पड़ी जब उन्होंने ५ वर्ष की ही अल्पावस्था में अपने पिताजी को निम्नलिखित दोहा पढ़कर सुनाया।

ले ब्योढ़ा ठाढ़े भये श्री अनरुद्ध सुजान।
बानासुर की सैन्य को हनन लगे भगवान॥

पिता को अपने बालक की प्रतिभा पर प्रसन्नता हुई। वह उसे कुल-उजागर समझने लगे, किन्तु अपने पुत्र का भविष्य देखने के पूर्व ही वे विदा हो चुके थे। ६ वर्ष की ही अवस्था में उन्होंने अपने पुत्र का यज्ञोपवीत किया और उसके बाद वह उसे (हरिश्चन्द्र को) सदा के लिए छोड़कर चले गये। आपकी माता चार वर्ष पहले ही आँखें मूँद चुकी थी। अल्पावस्था में ही माता-पिता के प्यार से वञ्चित हो भारतेन्दुजी कुछ स्वतन्त्रता का अनुभव करने लगे। उन्होंने अपने वास्तविक जीवन में माता-पिता के प्यार से वंचित हो कर ही प्रवेश किया। इनके वियोग से उन्हें दुःख होने के बजाय एक बेफिक्री का अनुभव हुआ। चिन्ता की एक हल्की रेखा भी अब उनके चेहरे पर न दिखायी देती थी।

पिता के संरक्षण में उनकी शिक्षा बाल्यावस्था में घर पर ही आरम्भ हुई। प्रमुख विद्वान् आपको हिन्दी और संस्कृत पढ़ाते थे। मौलवी ताजअली आपके उर्दू और फारसी के अध्यापक थे। आप पंडित नन्दकिशोरजी से अंग्रेजी की शिक्षा पाते थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् आपने क्वींस कालेज में भी नाम लिखाया था। पर वहाँ आपका जी न लगा। आप तो मस्तमौला थे, स्वतन्त्र थे, बेफिक्र थे, कालेज का बन्धन आपको स्वीकार न था और कविता में दिनों दिन आपकी रुचि बढ़ती गई। परिणाम यह हुआ कि एक दिन आपने कालेज छोड़ दिया। १३ वर्ष की अवस्था में आपका विवाह शिवाले के रईस लाला गुलाबराय की सुपुत्री मन्नादेवी से बड़े समारोह के साथ सम्पन्न हुआ। इसके बाद ही सपरिवार जगन्नाथपुरी की यात्रा की। पढ़ना, लिखना छूट गया। इस यात्रा में उनका परिचय बंगाल के कुछ नये कलाकारों से भी हुआ। उस समय बंगाल के सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक जीवन में एक विचित्र आन्दोलन था। साहित्य के विविध अङ्गों का निर्माण हो रहा था। भारतेन्दुजी इससे बहुत प्रभावित हुए। हिन्दी में नवयुग की चेतना का सूत्रपात अभी नहीं हुआ था। संवत् १९२३ में बुलन्द शहर, चुनार, लखनऊ, मसूरी, हरिद्वार, कानपुर, लाहौर, अमृतसर, दिल्ली आदि स्थानों का भी पर्यटन किया। इन यात्राओं के बाद ही आपने बड़ी द्रुत-गति से साहित्य-सेवा आरम्भ कर दी।

आपने १७ वर्ष की अवस्था में ही 'कवि-वचन-सुधा' नाम की पत्रिका निकाली। उन दिनों पत्रिका निकालना कोई आसान कार्य न था। जनता में खरीद कर पढ़ने की आज जैसी रुचि का भी अभाव था। इस पत्रिका में पुराने कवियों की रचनाएँ छपती थीं। बाद में इसमें हिन्दी गद्य भी छपने लगा। कुछ अंक निकलने के बाद इस पत्रिका का नाम भी हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका हो गया। इसी पत्र में ही हरिश्चन्द्र की परिमार्जित हिन्दी प्रथम बार दिखायी पड़ी। आपने एक पत्रिका और हरिश्चन्द्र मैगज़ीन नामक की निकाली थी।

जिस प्रकार काशी तीन लोकों से न्यारी है, उसी प्रकार भारतेन्दु का व्यक्तित्व भी तीन लोक से न्यारा था। उन्होंने अपने जीवन में किसी बात की परवाह न की। बेफिक्र थे, अपने मन के राजा थे, दिल के बादशाह थे। सरस्वती की पूजा करते थे, पर लक्ष्मी को दोनों हाथ से उड़ाते थे। वे कहते थे कि धन ने मेरे परिवार को खाया है, अब मैं इसे खाऊँगा। जो गरीब उनके दरबार में गया वह कभी खाली हाथ नहीं लौटा। वे हरिश्चन्द्र युग के महान् व्यक्ति थे। राह चलते हुए मार्ग के दीन-दुखियों को अपने वस्त्र तक उतार कर देने की कहानी तो उनकी रोज की घटना थी। एक बार आप विश्वनाथ जी का दर्शन करके लौट रहे थे। आपके कन्धे पर दो दिनों का ही खरीदा कीमती दुशाला था। आपने देखा कि गली के किनारे एक भिखारी जाड़े में थरथरा रहा है। उन्होंने तत्क्षण दुशाला उतार कर दे दिया। इस महान् कलाकार के लिए कठिन शीत में थरथराने की पीड़ा के सम्मुख दुशाले का मूल्य कुछ भी नहीं था। किसको क्या दिया, यह सब कभी सोचते नहीं थे। जीवन के अन्तिम दिनों में उनकी आर्थिक स्थिति खराब हो गयी थी। उन्होंने एक बार किसी कार्यवश बाबू जगत्नारायण गौड़, श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़, बेढब बनारसी के पिता से २) रुपया उधार लिया था। रुपया आने पर उन्होंने उसे तुरन्त लौटा दिया। और विचित्र बात तो यह है कि एक बार नहीं कई बार लौटाया। जब कभी उनका और गौड़जी का मिलन हो जाता, तो बाबू साहब कहते—हाँ भाई तुम अपना रुपया ले लो। एक बार तो गौड़जी ने इनकार भी किया और कहा, आपसे मैं रुपया पा गया हूँ, किन्तु वे नहीं माने और

कहते रहे कि गलत कह रहे हो। इस प्रकार उन्होंने जिससे लिया भी उससे एक बार लेकर कई बार दिया।

आपकी मित्रमंडली भी संस्कृत-साहित्यकार बाण की तरह बड़ी विचित्र थी। उसमें राजा, रंक, फकीर सभी थे। तुक्कड़, सम्पादक, हिन्दी-हितैषी, लेखक, कवि, गुण्डे भी थे। भारतेन्दु जी का परिचय सज्जन-असज्जन दोनों से था। उनके विलक्षण व्यक्तित्व के कारण ही महलों से लेकर कुटियों तक के लोग उनके पास आते थे। उनके व्यक्तित्व के प्रधान लक्षण थे, उनके हृदय की उदारता, रसिकता, विनोद-प्रियता तथा स्वच्छन्दता। उनके व्यक्तित्व के निर्माण में उनके कुल की परम्पराओं और परिवार की परिस्थितियों ने अच्छा हाथ बटाया था। सं० १९२७ में उनके छोटे भाई गोकुलचन्दजी ने सम्पत्ति का बटवारा करा लिया। उन्हें डर था कि कहीं सारी सम्पत्ति ही बाबूसाहब उड़ा न डालें। फिर क्या था, बाबू साहब और भी स्वतन्त्र हो गये, दोनों मुट्ठी भर कर लुटाने लगे। हफ्तों उनके घर पर कवि-दरबार होता। लोग आते थे कविता सुनाते, भोजन करते थे, मौज लेते थे। काशी के प्रसिद्ध गायक और गायिकाएँ भी जुटती थीं। रात-दिन गाना-बजाना भी होता था। बड़े-बड़े राजाओं के दरबार भी इस दरबार के सामने मात खा जाते थे। हँसी-मजाक, हाहा हूहू में जिन्दगी बीतती थी। बाबू साहब अपनी विनोद-प्रियता के लिए बड़े प्रसिद्ध थे। काशीवासी आपके पहली अप्रैल के विनोद को आज तक याद करते हैं। पहली अप्रैल को उन्होंने डुग्गी पिटवा दी कि एक आदमी विदेश से आया है और वह खड़ाऊँ पहनकर ६ बजे सन्ध्या को गंगा पार करेगा। फिर क्या था, संध्या को निश्चित समय तक घाट पर एक अच्छा मेला लग गया। अन्त में बाबू साहब आये और उन्होंने कहा कि आज पहली अप्रैल है—मजाक का दिन है। सभी हँसते-हँसते घर वापस आये।

बाबू साहब में कविता लिखने की विलक्षण प्रतिभा थी, अपूर्व शक्ति थी। उन पर कविता का जादू सवार रहता था। वह बातचीत करते जाते थे, कविता बनती जाती थी। हृदय में उठनेवाली कविता की वास्तविक तरङ्ग को वह रोक नहीं पाते थे, जहाँ कहीं हुआ लिख डालते थे। उनमें भाव-प्रभाव इतना

अधिक था कि उसका उद्रेक वह कभी रोक नहीं पाते थे। कविता की तरङ्ग के आगे वह खाना-पीना तक भूल जाते थे।

उनके व्यक्तित्व की भाँति ही उनका साहित्य भी कई विचार धाराओं, कई भावनाओं का सम्मिश्रण है। उनके काव्य-साहित्य को हम भाव के अनुसार चार भागों में बाँट सकते हैं।

१—भक्ति-प्रधान २—शृंगार-प्रधान ३—देश-प्रेम की भावना-प्रधान ४—सामाजिक समस्या-प्रधान। बाबू साहब कृष्ण के भक्त थे। वे पुष्टि सम्प्रदाय के माननेवाले थे। उनके साहित्य का एक बड़ा अंश वैष्णव साहित्य के अन्तर्गत आता है। उनकी धार्मिक भावना को परखने के लिए निम्नलिखित पद दिये जा रहे हैं।

हम तो मोल लिये या घर के।
दास दास श्री वल्लभ कुल के चाकर राधा वर के।
सम्हारहु अपने को गिरधारी।
मोर मुकुट सिर पाग-पेच कसि राखहु, अलक सँवारी।
हिय हलकत बनमाल उठावहु, मुरली धरहु उतारी॥
चक्रादिकन सान दै राखौं, कंचन फसन निवारी।
नूपुर लेहु किंकिनी खीचहु, करहु तयारी॥
हम नहीं उनमें जिन को सहजहि दीनों तारी।
बानो जुगवो नीकें अबकी 'हरिश्चन्द' की बारी।

साधना मन्दिर में कवि ने सूर और मीराँ के भी दर्शन किये थे। घनानन्द और रसखानि से भी उसने अच्छा परिचय किया था। वह उन्हीं के अनुराग भरे पथ पर गाता था। उसमें उनकी मोहक रागिनी भी थी, अन्तर की वेदना का गहन प्रभाव भी था। जरा देखिये तो कैसी मस्ती, कैसी प्रेम की पीर है।

हम हूँ सब जानती लोक की चालनि, क्यों इतनी बतरावती हौ?
हित जामैं हमारो बनै सो करौ, सखियाँ तुम मेरी कहावती हो॥

'हरिश्चंद जू' या में न लाभ, कछु हमें बातिन क्यों बहकावती हो ?
सजनी मन हाथ हमारे नहीं तुम, कौन को का, समझावती हो ॥
उनकी कसक भरी आँखों में प्रेम की पीर आप देखिये ।—

इन दुखियान को न सुख सपने हू मिल्यौ,
याते सदा व्याकुल विकल अकुलायेगी ।
प्यारे 'हरिश्चन्द जू' की बीती जानिऔधि तौपै,
जैहैं प्रान तऊ ये तो साथ न समायेंगी ॥
देख्यौ एक बार हूँ न नैन भरि तोहिं यातें,
जौन जौन लोक जैहें तहीं पछितायँगी ।
बिना प्रान प्यारे भये दरस तुम्हारे हाय,
देखि लीजो आँख ये खुली रह जायँगी ॥

एक ओर आपकी कविता में प्राचीन, रीति कालीन परम्परा का निर्वाह था, तो दूसरी ओर प्राचीन रूढ़ियों को तोड़ने का महान आग्रह भी। एक ओर आपने मीराँ, सूर, रसखानि तथा घनानन्द जैसी प्रेम की पीर से भरी, अनुराग और वियोग की कवितायें लिखीं और दूसरी ओर आपने जन-साहित्य का भी निर्माण किया। कजली और लावनियाँ भी लिखीं। आपकी लावनी का एक नमूना देखिये, वर्षा के वर्णन का आनन्द लीजिए।

खड़ी अकेली राह देखती बरस रहा है पानी ॥
अन्धेरी छाय रही भारी ।
सूझत कहुँ न पन्थ, सोच करै मन-मन में नारी ॥
न कोई समझावन हारी ।
चौंकि चौंकि के उझकि झाँकि रही प्यारी ॥
बिरह से व्याकुल अकुलानी ।
खड़ी अकेली राह देखती बरस रहा है पानी ॥
सन सन करके रात खनकती झींगुर झनकारै ।
कभी कभी दादुर रट कर जिय व्याकुल करि डारै ।
साँप खण्डहर पर ठनकारै ।

गिरे करारे टूट टूट कर नदी छलक मारै ।
पिया बिनु सबहीं दुखदानी ।
पिय बिन को जो गा लावै ।
'हरिश्चन्द्र' बिनु बरसा मैं को कसक मिटावै ।
कहाँ बिलम, को बन रमनी ।
खड़ी अकेली राह देखती बरस रहा है पानी ।

इन लावनियों की भाषा अबतक की कविताओं की भाषा से भिन्न थीं। कविता की भाषा जन-सम्पर्क की भाषा से भिन्न हो ही जाती है। भाषा की कुछ विशेष शब्दावलियाँ, कुछ विशेष टेकनीक एक दिन में नहीं बनती। निर्माण में अनेक वर्ष लगते हैं। जब टेकनीक और उसका विधान पूर्ण हो जाता है तबतक जनवर्ग की भाषा बहुत आगे बढ़ जाती है। उसमें अनेक परिवर्तन हो जाते हैं। इसीसे कविता की भाषा सदा जनता की भाषा से पीछे रहती है। किन्तु प्रत्येक वस्तु की एक सीमा होती है। अपनी सीमा पर पहुँच जाने पर इस प्रकार की भाषा से जनता बहुत दूर चली जाती है तभी क्रान्तिकारी कलाकारों का प्रादुर्भाव होता है और वे जन-साहित्य का निर्माण करते हैं। ऐसे ही क्रान्तिकारी कलाकार थे बाबू हरिश्चन्द्र। उन्होंने एक नये युग का नेतृत्व किया था। अतीत की परम्पराएँ क्षीण हो रही थी, वर्तमान अपने पर असन्तुष्ट था। नयी-नयी समस्याएँ उत्पन्न हो गयी थीं। नयी-नयी परम्पराएँ आरम्भ हो रही थीं। विगत युग आगन्तुक युग से विलग हो रहा था। ऐसे सन्धिकाल में भारतेन्दु बाबू का व्यक्तित्व हिन्दी-साहित्य को एक दूसरी दिशा की ओर मोड़ ले गया। उनके साहित्य में सामाजिक दशा का बड़ा ही सजीव चित्र है। उनकी 'अन्धेर नगरी', 'भारत दुर्दशा' आदि नाटक हमारी समस्याओं को ही सामने लाते हैं।

आपने देश-प्रेम की उस समय आवाज उठायी जब अंग्रेज सरकार के विरुद्ध एक शब्द भी कहना अपराध था। आपका यह साहस इतिहास में सदा ही सराहनीय रहेगा। खड़ी बोली की कविता का प्रादुर्भाव आपके द्वारा ही हिन्दी में हुआ। खड़ी बोली ही कविता में रोमांटिक तथा स्वच्छन्दतावादी

धारा पन्त और निराला के पहले ही भारतेन्दु की कल्पना के सूक्ष्म संकेतों द्वारा ही आरम्भ हो चुकी थी।

अपने व्यक्तित्व और परिश्रम के बल पर भारतेन्दुजी ने जो कुछ किया, उसपर आश्चर्य होता है। १६, १७ वर्ष के साहित्य-जीवन में आपने अनेक ग्रन्थों की रचना की। इससे आपकी लगन, आपकी प्रतिभा तथा अध्यवसाय का पता चलता है। आपने साहित्य का ही निर्माण नहीं किया, आपने नये-नये साहित्यकार भी बनाये। आपके युग में एक साहित्यकार-मण्डल तैयार हो गया था। उपाध्याय पण्डित बदरीनारायण चौधरी, पण्डित प्रतापनारायण मिश्र, बाबू तोताराम, ठाकुर जगमोहनसिंह, लाला श्रीनिवासदास, पण्डित बालकृष्ण भट्ट, पण्डित केशवराम भट्ट, पण्डित अम्बिका दत्त व्यास, पण्डित राधाचरण गोस्वामी इत्यादि कई प्रौढ़ और प्रतिभाशाली लेखकों का एक सुदृढ़ मण्डल उनके ही समय में तैयार हो चुका था। साहित्य-निर्माण से इनका यह कार्य महान् था। जिस प्रकार किसी बड़े नक्षत्र के इर्द-गिर्द छोटे नक्षत्र रहते हैं उसी प्रकार भारतेन्दु के चारों ओर साहित्यकारों का जमघट लगा रहता था।

इतना होने पर भी भारतेन्दु बड़े सरल स्वभाव के थे। वे गुणियों के सेवक थे, कवियों के मित्र थे, सज्जनों के लिए सज्जन थे, दुर्जनों के लिये बाँके थे। उनमें किसी प्रकार की चाह नहीं थी। वह प्रेम के दीवाने थे और राधा रानी के गुलाम थे। उन्हें स्वाभिमान न था, लेकिन अभिमानियों के सामने कभी झुकते न थे। अपने सिद्धांत के पक्के थे, शिव प्रसाद सितारे हिंद उनके गुरु थे, किन्तु भाषा के प्रश्न पर वे अपने गुरु के समक्ष भी न झुके। उनके ही शब्दों में उनके व्यक्तित्व का चित्र देखिये।

सेवक गुनी जन के, चाकर चतुर के हैं,
कविन के मीत, चित हित गुन-ग्यानी के।
सीधेन सो सीधे, महा बाँके हम बाँकन सो,
'हरिश्चन्द्र' नगद दमाद अभिमानी के॥

चाहिये की चाह काहू की न परवाह, नेही,
नेह के दिवाने सदा सूरत निवानी के।
सरवस रसिक के सुदास-दास प्रेमिन के,
सखा प्यारे कृष्ण के, गुलाम राधा राँनी के॥

भारतेन्दु ने काव्य के क्षेत्र में नये विचारों, नये मनोभावों को जन्म तो दिया ही है, व्यापकता की दृष्टि से कबीर की पद्धति से लेकर तत्कालीन लोक-काव्य तक काव्य का विस्तार किया। उनकी लावनियाँ इसका स्वस्थ उदाहरण है।

गद्यकार के रूप में उनकी महत्ता कवि की अपेक्षा और भी बड़ी है, क्योंकि उस समय न केवल भाषा के परिष्कार का, हिन्दी के व्यापक प्रसार का तथा लोक-जीवन में हिन्दी की प्रतिष्ठा की आवश्यकता थी, अपितु स्वस्थ वृत्ति के साहित्य के निर्माण की आवश्यकता का अनुभव होने लगा था। व्यापक दृष्टि से भारतेन्दु ने गद्य के क्षेत्र में अटूट लगन और निष्ठा के साथ दोनों कार्य सम्पन्न किया। यद्यपि वय की दृष्टि से उनकी आयु बहुत थोड़ी हुई तो भी उन्होंने उस व्यापक अनुष्ठान की पूर्णाहुति की जो युगों से इस कार्य की अपेक्षा रखता था। इनके पूर्व तक हिन्दी में एक भी ऐसा लेखक न था जिसके साहित्यिक आदर्श के पीछे चलने वालों का एक जमघट जुट सके। भारतेन्दु के पीछे तो समर्थ साहित्य निर्माण-कर्ताओं का एक दल था जो उनकी भाषा को साहित्य-निर्माता के रूप में मानता था। कहना न होगा कि भारतेन्दु ने परिष्कृत हिन्दी का व्यापक प्रयोग कर उसे साहित्यिक निर्माण के उपयुक्त बनाया। वे अपने युग के महा नेता थे। सामाजिक से लेकर दार्शनिक भित्ति उनके साहित्य की आधार शिला बनी। नाटकों के द्वारा उन्होंने तात्कालीन जीवन-दर्शन को समाज-गंगा के रूप में प्रवाहित करने का भगीरथ प्रयत्न किया। उनके पूर्व तक केवल निम्नांकित नाटक मात्र लिखे गये थे, जिन्हें नाटक की संज्ञा देना साहित्यिक दृष्टि से समीचीन नहीं, क्योंकि वे तो पद्य में लिखी रचनाएँ मात्र हैं। उनमें नाटकीय तत्वों का सर्वथा अभाव है।

जैन कवि बनारसीदास का 'समयसार-नाटक', प्राणचन्द चौहान का

'रामायण महा नाटक', व्यासजी के शिष्य देव कृत 'देवमाया प्रपंच', अन्तर्वेद निवासी ब्राह्मण नेवाज का 'शकुन्तला', रवेराम नागर का 'सभासार', 'कृष्ण जीवन', लछीराम कृत 'करुणाभरण', लल्लूलालजी के वंशधर हरिराम का 'जानकी राम-चरित नाटक', बाँधवनरेश महाराज विश्वनाथसिंह कृत 'आनन्द रघुनन्दन नाटक', बाबू गोपालचन्द का 'नहुष' इसी प्रकार की रचनाएँ हैं।

भारतेन्दु ने स्वयं भी अपने पूर्ववर्ती नाटकों का उल्लेख किया है और उन्होंने केवल महाराज विश्वनाथ सिंह का 'आनन्द-रघुनन्दन' और अपने पिता बाबू गोपालचन्द के 'नहुष' नाटक मात्र को वास्तविक नाटक माना है। उनके सम्बन्ध में डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा का यह अभिमत है कि वे भी शुद्ध नाटक नहीं हैं। उनका यह भी कहना है कि इन दोनों रचनाओं में प्रथम तो नाटकीय पद्धति पर लिखा काव्य और द्वितीय कृति अपूर्ण होने के कारण विचार क्षेत्र में नहीं आती।

अतएव निश्चय ही भारतेन्दु हिंदी नाटक के आदि प्रवर्तक हैं। हिंदी नाटकों के इतिहास का एक धारावाहिक विकास उनकी रचनाओं से प्रारम्भ हो जाता है। उन्होंने नाटकों का अनुवाद किया, अपने संरक्षण में अनुवाद करवाया तथा स्वयं मौलिक कृतियाँ लिखीं। यद्यपि उनके नाटक पूर्ववर्ती साहित्य के लेखकों से प्रभावित हैं तो भी कहना न होगा कि वे केवल प्रभाव तक ही हैं। लेखक की मौलिकता सत्य हरिश्चन्द्र और विद्यासुन्दर में स्वयं बोल उठती है। भावों के क्षेत्र में उन्होंने न केवल युग में व्याप्त अन्धेर, कुशासन, वैर-भाव, सामाजिक विपन्न स्थिति की अभिव्यक्ति मात्र प्रस्तुत की है, अपितु अंग्रेज सरकार की कड़ी आलोचना भी की है। यदि उस समय की उनकी रचनाएँ उठाकर देखी जायं तो ऐसा आभास लगता है कि उनके जैसा सुधारक नेता एवं साहित्य-स्रष्टा उस युग में कोई हुआ ही नहीं। यदि रोमांटिक रचनाओं की ओर विशेष ध्यान से देखा जाय तो यह मानना पड़ता है कि चन्द्रावती न केवल उनकी हिन्दी की प्रथम रोमांटिक नाटिका है, अपितु उसमें एकोन्मुखी प्रेमाकुल चित्तवृत्तियों की सजीव अभिव्यक्ति भी है। कहना न होगा कि यह कृति लेखक के व्यक्तित्व की व्यापक अभिव्यक्ति का आभास

देती है। उनके अनूदित नाटकों में रत्नावली (प्रारम्भिक अंश), 'पाखण्ड विमण्डन', 'प्रबोध चन्द्रोदय का तृतीय अंश', 'धनंजय विजय', 'मुद्राराक्षस', 'कर्पूरमंजरी', 'भारत जननी' 'दुर्लभ बंधु' हैं। उनके विभिन्न नाटकों का कालक्रम इस प्रकार है। इनमें प्राकृत बंगला अंग्रेजी से अनेक अनूदित हैं। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने सत्यहरिश्चन्द्र को चण्डकौशिक पर आधृत माना है। विद्यासुन्दर द्वितीय सं० १८८२' ई०, रत्नावली अपूर्ण '१८६८' पाखंड विडंबन '१८७२', वैदिकी हिंसा न भवति '१८७३' ई०, धनजंय विजय '१८७३', मुद्राराक्षस '१८७५-७७', सत्यहरिश्चन्द्र '१८७५', प्रेमजोगिनी 'काशी के छायाचित्र या दो भले-बुरे फोटोग्राफ' नाम से '१८७४', विषस्य विषमौषधम् '१८७६', कर्पूरमंजरी '१८७६', चन्द्रावली '१८७६', भारतदुर्दशा '१८७६', भारत जननी '१८८७' नीलदेवी '१८८०', दुर्लभबंधु '१८८०', अंधेरनगरी '१८८१' और सतीप्रताप '१८८४' ई० के प्रकाशन हैं।

निबंधकार के रूप में भी हिन्दी निबंधों का इन्हें प्रवर्तक मानते हैं। इन्होंने उस समय अपने द्वारा प्रवर्तित पत्रों—कविवचन-सुधा, हरिश्चन्द्र-सुधा, बालबोधिनी में निबंध लिखे। जब दयानन्द सरस्वती और पं० श्रद्धाराम फुलौरी के अतिरिक्त किसीने भी निबंधों की रचना न की थी। पर उन दोनों की रचनाएँ धार्मिक और साम्प्रदायिक खंडन-मंडन की अभिव्यक्ति मात्र हैं। साहित्यिक दृष्टि से निबंध प्रवर्तक का कार्य बाबू साहब ने ही किया। भाषा में जिस समय राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मण सिंह में शैली की मान्यता के प्रश्न पर द्वन्द्व चल रहा था, उस समय इन्होंने मध्य मार्ग अपनाकर व्यापक रचना के लिये द्वार खोला था। यद्यपि इनके निबंध साहित्यिक दृष्टि से उच्चकोटि के नहीं हैं, फिर भी ये उनके जनक हैं। उनकी भाषा शैली के उदाहरण रूप में निम्नलिखित अंश उद्धृत किया जाता है।

हरि० - प्रिये! हरिश्चन्द्र की अर्द्धांगिनी होकर तुम्हें ऐसा कहना उचित नहीं है। हा! भला तुम ऐसी बात मुँह से निकालती हो। स्वप्न किसने देखा है! मैंने न। फिर क्या! स्वप्न, संसार अपने काल में असत्य है; इसका कौन प्रमाण है! और जो अब असत्य कहो, तो मरने के पीछे तो यह संसार भी असत्य है,

फिर उसमें परलोक के हेतु लोग धर्माचरण क्यों करते हैं ? दिया सो दिया, क्या स्वप्न में, क्या प्रत्यक्ष ?

रानीः—(हाथ जोड़कर) नाथ ? मा जिये, स्त्री की बुद्धि ही कितनी !

हरि०—(चिन्ता करके) पर मैं अब करूं क्या ! अच्छा ! प्रधान ! नगर में डौड़ी पिटवा दो कि राज्यको सब लोग आज से अज्ञातनाम गोत्र ब्राह्मण का समझें, उसके अभाव में हरिश्चन्द्र उसके सेवक ही भाँति उसकी थाती समझ के राजकार्य करेगा और दो मुहर राजकाज के हेतु बनवा लो, एक पर अज्ञातनामा गोत्र ब्राह्मण महाराज का सेवक हरिश्चन्द्र और दूसरे पर राजाधिराज अज्ञातनामा गोत्र ब्राह्मण महाराज खुदा रहे और आज से राज-काज के सब पत्रों पर भी यही नाम रहे। देश के राजाओं और बड़े-बड़े कार्याधीशों को भी आज्ञा-पत्र भेज दो कि महाराज हरिश्चन्द्र ने स्वप्न में अज्ञातनाम गोत्र ब्राह्मण को पृथ्वी दी है, इससे आज से उसका राज्य हरिश्चन्द्र मंत्री की भाँति सँभालेगा।"

"उनकी भावावेश की शैली दूसरी हैं, और तथ्य निरूपण की शैली दूसरी। भावावेश की भाषा में वाक्य बहुत छोटे-छोटे होते हैं। पदावली सरल बोलचाल की होती है, जिसमें बहुत प्रचलित साधारण अरबी फारसी के शब्द भी कभी-कभी, पर बहुत कम, आ जाते है। जहाँ चित्त के किसी स्थायी क्षोभ की व्यंजना और चिंतन के लिए कुछ अवकाश है, वहाँ की भाषा कुछ अधिक साधु और गंभीर तथा वाक्य कुछ बड़े हैं, पर अन्यत्र जटिल नहीं है।"—शुक्लजी

उनके सम्बन्ध में आचार्य शुक्लजी की मान्यताएँ सर्वमान्य हो चुकी हैं। यहाँ उनके संबन्ध में उनके हिन्दी साहित्य से एक और उदाहरण दिया जा रहा हैः—

"अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से एक ओर तो वे पद्माकर और द्विजदेव की परंपरा में दिखाई पड़ते थे, दूसरी ओर बंग देश के माइकेल और हेमचन्द की श्रेणी में। एक ओर तो राधाकृष्ण की भक्ति में झूमते हुए नई भक्त माल गूँथते दिखाई देते थे, दूसरी ओर मंदिरों के अधिकारियों और टीकाधारी भक्तों के चरित्र की हंसी उड़ाते और स्त्रीशिक्षा, समाज-सुधार आदि पर व्याख्यान देते पाए जाते थे। प्राचीन और नवीन का यही सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु की कला

का विशेष माधुर्य्य है। साहित्य के एव नवीन युग के आदि में प्रवर्तक के रूप में खड़े होकर उन्होंने यह भी प्रदर्शित किया कि नए नए या बाहरी भावों को पचा-कर इस प्रकार मिलाना चाहिए कि वे अपने ही साहित्य के विकसित अंग से लगें प्राचीन नवीन के उस संधिकाल में जैसी शीतल कला का संचार अपेक्षित था वैसी ही शीतल कला के साथ भारतेन्दु का उदय हुआ, इसमें संदेह नहीं।"

भारतेन्दु ने भारती के मन्दिर में केवल अपना ही उत्सर्ग नहीं किया, अपितु उन्होंने साहित्य के निर्माणकर्ताओं का एक ऐसा दल भी प्रेरणा संचलित किया जो उनके द्वारा उठाए हुए कार्य को प्राण-पण से, उनके जीवनकाल में और तदन्तर भी श्रद्धापूर्वक करता रहा।

प्रसाद की चतुर्दशपादियाँ और सॉनेट

'प्रसाद-संगीत' में श्री रत्नशंकर प्रसाद ने 'एक बात' में लिखा है कि 'इस संग्रह में पिता जी की चतुर्दशपादियाँ एवं उनके नाटकों के समस्त गीतों का संग्रह है।'

चतुर्दशपदी के दो अर्थ हिन्दी में लगाए जा सकते हैं। एक चौदह पंक्ति की कविता और दूसरा अर्थ है सॉनेट (Sonnet)। पहले अर्थ के अनुसार निम्नलिखित २० चतुर्दशपादियाँ इस संकलन में हैं:—

१. हृदय के कोने-कोने से	(विशाख)	प्रसाद संगीत पृष्ठ ४० ।
२. अलका की किस....	(अजातशत्रु)	,, ,, ६० ।
		माधुरी व० ४, खं० १, सं० १, २५-२६
३. चल बसन्तबाला अञ्चल से	(,,)	प्रसाद संगील पृष्ठ ,, ६३ ।
		माधुरी वर्ष ४ सं० ३ ,, सं २, १९२६
संस्कृति के सुन्दरतम...	(स्कन्दगुप्त)	प्रसाद संगीत पृष्ठ ८४
		सुधा, सितम्बर २१ ।
५. सब जीवन बीता जाता है	(,,)	प्रसाद संगीत पृष्ठ ९१
		इन्दु, मार्च २७ ।
६. अगरु धूम की श्याम	(,,)	प्रसाद संगीत पृष्ठ ९६
		मनोरमा, सं० २ १९२७
७ जीवन-वन में उजियाली है	(एक घूँट)	प्रसाद सं० १०३
८. जलधर की माला	(,,)	,, ,, १०४
९. तुम कनक किरण	(चन्द्रगुप्त)	,, ,, १०६

ये तो नाटक की चतुर्दशपदियाँ हुईं। अन्य चतुर्दशपादियाँ क्रमानुसार निम्नलिखित हैं:—

१० सरोज	(इन्दु मार्च १९१२)	प्रसाद-संगीत	पृष्ठ	१२३।
११. खोलो द्वार	(,, जनवरी १९१४)	,,	,,	१२४।
१२. रमणी हृदय	(,, ,, ,,)	,,	,,	१२५।
१३. प्रियतम	(,, सितम्बर ,,)	,,	,,	१२६।
१४. मेरी कचाई	(,, अक्तूबर ,,)	,,	,,	१२७।
१५. हमारा हृदय	(,, जनवरी १९१५)	,,	,,	१२८।
१६. प्रत्याशा	(,, फरवरी ,,)	,,	,,	१२९।
१७. अर्चना	(,, ,, ,,)	,,	,,	१३०।
१८. स्वभाव	(,, मार्च ,,)	,,	,,	१३१।
१९. बसन्तराका	(,, मई ,,)	,,	,,	१३२।
२०. दर्शन	(,, अगस्त ,,)	,,	,,	१३३।
२१. सुख भरी नींद	(,, सितम्बर १९१६)	,,	,,	१३४।
२२ स्वर्ग-संसार	(चाँद, नवम्बर १९३५)	,,	,,	१३५।
२३. दीप (झरना)	माधुरी वर्ष १, खण्ड १, सन् १९२२		,,	१३६।
२४. गान	(कानन-कुसुम, तीसरा-संस्करण)		,,	१३७।
२५. मनुहार	(लहर) (माधुरी, मार्च १९३३)		,,	१३८।
२६. प्रार्थना	(करुणालय) (इन्दु फरवरी १९१३)		,,	१३९।
२७. गाईंचाग	(झरना) (चित्राधार प्रथम-संस्करण)		,,	१४०।
२८. नहीं डरते	(काननकुसुम) (चित्राधार दूसरा संस्करण)		,,	१४१।
२९. महाकवि तुलसीदास	(काननकुसुम) (तुलसी ग्रन्थावली, सभा, १९२३)		,,	१४२।
३०. नमस्कार	(कानकुसुम) (इन्दु, जून १९१३)		,,	१४३।

प्रसाद जी की चतुर्दशपादियों की ओर इधर श्री किशोरीलाल गुप्त ने ध्यान आकृष्ट किया है। और वे सॉनेट के अर्थ में इसका प्रयोग करते हैं। श्री

लोचनप्रसाद पाण्डेय ने उधर 'इन्दु' द्वारा हिन्दी जगत का ध्यान सॉनेट की ओर आकृष्ट किया।

प्रसादजी ने एक पत्र में व्यक्त किया था :—

'चतुर्दशपदी कविता हमने तीन छन्दों में लिखी है। 'इन्दु की प्रतियों में आप उन्हें देख सकते हैं।'

यह लोचनप्रसाद पांडेय के निम्नलिखित प्रश्न का उत्तर था।

"हिंदी में Sonnets (चतुर्दशी कविता) लिखे जायँ या नहीं। Sonnets के लिए मात्रावृत्तों में से कौन सा छन्द चुना जाय? क्या यही 'वीर' छन्द? इसमें 'तुक' का क्या नियम हो? क्या अंग्रेजी और बंगाली-शैली पर हिंदी में भी 'तुक' रहे।"

इन दोनों के प्रश्न और उत्तर देख लेने के पश्चात् यह सहज ही कहा जा सकता है कि चतुर्दशपदी का सीधा और सरल अर्थ सॉनेट है। यहाँ अंग्रेजी और बङ्गला का नाम लिया गया है। सानेट की बँगला वाली प्रणाली अंग्रेजी पर आधृत है। 'तुक' की बात भी स्पष्ट आयी है। इसलिए अतुकांत उन पदों को सानेट नहीं माना जा सकता जिसमें संयोग से चौदह पंक्तियाँ मात्र आ गयी हैं। हिन्दीवालों के लिए उस समय बँगला उड़िया और अंग्रेजी का ही द्वार सॉनेट के लिए खुला था, अतएव सॉनेट के सम्बन्ध में निवेदन कर लेने के पश्चात् ही प्रसाद और सानेट विषय पर कुछ लिखना अधिक समीचीन होगा।

चौदह पंक्ति की कविताओं का सन्निवेश चतुर्दशपदी के अन्तर्गत होता है। इस प्रणाली में तुक की अनिवार्य प्रथा है। तुक प्रणाली अलग-अलग भाषाओं तथा विभिन्न कवियों में भिन्न-भिन्न होती है। सामान्यतः चतुर्दशपदी के लिए जिस छन्द का उपयोग किया जाता है, वह छन्द अपनी भाषा के प्रमुख छन्दों में से एक होता है। छन्द विशेष मात्र सॉनेट का अनिवार्य लक्षण नहीं माना गया पर सामान्यतःएक कवि एक भाषा में एक ही छन्द में सॉनेट लिखता है।

पश्चिम में सॉनेट का आरम्भ इटली से होता है। पेट्रार्क (Petrarch)

वहाँ इस पद्धति का प्रवर्तक हुआ। इस पद्धति में क्रम से तुक निम्नलिखित प्रणाली पर रहता है :—

पंक्ति		तुक			तुक
१ ...	...	a			
२	...	b			
२ ...	...	b			
४ ...	...	a			
५ ...	..	a			
६ ...	...	b			
७ ...	...	b			
८ ...	...	b			
९ ...	...	c	...	...	c
१०	....	b	...	...	d
११ ...	...	c	...	...	e
१२ ...	...	d या	...	...	e
१३ ...	...	c	...	...	d
१४ ...	...	d	...	...	e

इस पेट्रांकिन पद्धति का प्रयोग इङ्गलैंड, फ्रांस अलेकजेण्डरिया में सामान्यतः रोमान्स-साहित्य के लिये किया गया। विभिन्न देशों के प्रतिभा सम्पन्न कवियों ने भिन्न रूपों में इसका प्रयोग किया गया है। यह विभिन्नता तुकों को लेकर है। किसी ने —

पंक्ति	तुक	पंक्ति	तुक
९	c	१२	c
१०	d	१३	d
११	a	१४	c

और किसी ने

पंक्ति	तुक	पंक्ति	तुक
९	c	१२	e
१०	c	१३	a
११	a	१४	e

तुक के उपर्युक्त क्रम को आधार बनाया। पहली आठ पंक्तियों का क्रम यथापूर्व बना रहा।

सॉनेट के दूसरे रूप का प्रवर्त्तक शेक्सपियर (Shakespear) है। इसने सॉनेट में तुक को निम्नलिखित क्रम में रखा:--

	पंक्ति	तुक
	१	a
पद १	२	b
	३	a
	४	b
	५	c
पद २	६	d
	७	c
	८	d
	९	e
पद ३	१०	f
	११	e
	१२	f
	१३	g
अर्द्धपदी	१४	g

शेक्सपीरियन सॉनेट पद्धति को एलिजाबेथियन या अंग्रेजी सॉनेट पद्धति और पूर्ववर्ती को पेट्रार्कन, इटैलियन या क्लैसिकल पद्धति के नाम से लोग सम्बोधित करते हैं।

तेरहवीं शताब्दी में ही सॉनेट का आविष्कार हो चुका था। इसके आविष्कार का श्रेय सिसिलियन पद्धति के कवियों को है। दाँते (Dante) तथा उनके समसामयिक साहित्यकारों ने इसका प्रयोग किया था।

बाद में पेट्रार्क ने इसके रूप तथा तुक दोनों की सर्वमान्य स्थापना की। इसने इसका प्रयोग अत्यन्त व्यापक पैमाने पर किया। इसका प्रथम प्रयोग उसने अपनी प्रेमिका (Sura Denova) के प्रति मर्यादित प्रेमानुभूति व्यक्त करने के लिए 'राइम' (Rime) में किया। इस पद्धति का प्रयोग सोलहवीं शताब्दी तक केवल इटली में होता रहा।

यूरोप के अन्य देशों ने इसी समय नये पद्य-रूप की आकांक्षा से इसे ग्रहण किया। स्पेन में बोसकान (Boscan) और गार्सिलासो डीला वेगा (Garcilaro de la Vega) ने इसका प्रयोग आरंभ किया। इसी समय इंगलैण्ड में प्रथम सॉनेट सर थामस 'व्यॉट' (Sir Thomas Wyatt) ने लिखा। सन् १५७७ ई० में सर थामस व्यॉट तथा उनके अनुवर्ती सॉनेटकार सरे (Surrey) के सानेटों का संग्रह 'सांग्स एण्ड सॉनेट्स' (Songs and sonnets) रोम से प्रकाशित हुआ। व्यॉट पूर्णतः पेट्रार्क के अनुगमन पर चला पर अन्तिम दो पंक्तियों में उसने तुक का विधान अंग्रेजी ढंग पर किया। सरे ने दोनों प्रकार के तुकों का प्रयोग किया। इन दोनों के प्रयत्न ने स्पेन्सर (Spencer) सिडनी (Sidney) तथा पूर्णरूप से शेक्सपियर (Shakespear) के सॉनेटों के लिए द्वार खोल दिया।

फ्रांस में भी सॉनेट का प्रयोग आरम्भ हुआ। वहाँ इसके शुभारंभ कर्त्ता क्लीमेंट मेरोट (Clement marot) और मेलिन डी सेंट-जिलियास (Mellin de Saint-Gelias) थे। तत्पश्चात् डू बेले ने (Du Bellay) इटालियन पद्धति पर ल' ओलिव (L' Olive) नामक सॉनेट-ग्रन्थ

का प्रणयन किया। सॉनेट कार] डू बेले के प्रति स्पेन्सर ने भी अपनी कृतज्ञता व्यक्त की है। वह अपने क्षेत्र में अत्यन्त सफल रहा है।

पुर्तगाल में केमोस (Camoes) ने सन् १५६५ में सानेट की परम्परा का आरम्भ किया।

सोलहवीं शताब्दी में सॉनेट का प्रभुत्व यूरोप के सभी भाषाओं के साहित्य में परिव्याप्त है, तथा सॉनेट की प्रशंसा में भी पर्याप्त रूप से लिखा गया है।

सत्रहवीं शताब्दी में सॉनेट की दिव्य परम्परा यूरोप में चारण कवियों के हाथ में पड़, भ्रष्ट हो गई। स्पेन और जर्मनी में उस समय उसका प्रयोग भौतिक और धार्मिक भावाभिव्यक्ति के लिए किया जाने लगा। मिल्टन ने निश्चय ही इंगलैण्ड में इटालियन प्रणाली पर सॉनेट की मर्यादा सुरक्षित रखी। उन्नीसवीं शताब्दी तक सॉनेट का तिरोधान होने लगा।

उन्नीसवीं शताब्दी में वर्ड्सवर्थ के सानेट आये जिन्होंने नई परम्परा स्थापित की। कीट्स, ब्राउनिङ्ग आदि के सॉनेट भी अपनी मर्यादा के लिए विख्यात हैं। फ्रांस में प्रतीकवादी कविताओं के लिए सॉनेट का उपयोग किया जाने लगा।

बीसवीं शताब्दी में रिल्के ने सॉनेटों को रहस्यवादी जामा पहिनाया, लेकिन सॉनेट के क्षेत्र में अत्याधुनिक प्रवृत्ति यह है कि तुकबन्धन को कवि हटाना चाहते हैं।

सॉनेट का यह इतिहास इस बात का साक्षी है कि योरोप में उद्भूत काव्य का यह रूप अप्रतिम शक्ति से परिसंचालित है। इस संचालन के मूल में उसकी लोच है। किन्तु एक प्रश्न इस सम्बन्ध में अत्यन्त विचारणीय है, वह प्रश्न यह है कि क्या चौदह पंक्ति के किसी पद्य को ही सॉनेट की संज्ञा दी जा सकती है। उसका गुण-धर्म तो कुछ होना ही चाहिए। यद्यपि पूर्ववर्ती सॉनेट विषय-वस्तु की दृष्टि से प्रकृति, धर्म, नैतिक-जिज्ञासा एवं गम्भीर व्यक्तिपरक राग-विराग से संश्लिष्ट हैं, तो भी सॉनेट की मूलचेतना व्यक्ति-परक गंभीर भावोच्छ्वासों की गेय अभिव्यक्ति में है।

भारतवर्ष में माइकल मकसूदन दास को सॉनेट के आदि प्रयोक्ता के रूप में स्मरण किया जा सकता है। उनका अनुवर्त्तन उड़िया के मधुसूदन साव ने किया है। इसके पश्चात् हिन्दी में भी बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक से ही सॉनेट का लिखा जाना आरम्भ हो जाता है। लोचन प्रसाद पाण्डेय उपलब्ध सामाग्री के आधार पर आधुनिक हिन्दी के प्रथम सॉनेटकार ठहरते हैं।

यद्यपि पश्चिम की अत्याधुनिक प्रवृति यह है कि 'सॉनेट' अपने पूर्ववर्ती सभी लक्षणों को छोड़कर केवल चौदह पंक्ति की कविता रह गयी है तो भी जब प्रसाद जी ने सॉनेट लिखना आरम्भ किया तो उस समय सॉनेट के लिए निम्न-लिखित तथ्य अनिवार्य थेः—

(क) एक कवि एक ही छन्द में सॉनेट लिखता था।

(ख) तुक की एकरूपता आवश्यक है।

(ग) पद गेय हों।

(घ) भाव व्यक्तिपरक हों।

इस दृष्टि से देखने पर प्रसाद जी को चतुर्दशपंक्तियों से निम्नलिखित तथ्य प्रकट होते हैंः—

पद्य-संख्या १ किसी भी अर्थ में सानेंट नहीं है। न तो उसमें समान पद है न तो सानेट की किसी प्रणाली पर तुक ही।

अन्य पदों के सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्य द्रष्टव्य हैं ?

पद्य-संख्या २ छन्द की मात्रा ३०

तुक-प्रणाली

पंक्ति	१,	२,	३,	४,	५,	६,	७,	८,	९,	१०,	११,	१२,	१३,	१४
तुक	a	a	b	b	c	c	d	d	d	d	e	e	f	f

पद्य-संख्या ३ छन्द की मात्रा ३०

तुक प्रणाली

पंक्ति	१,	२,	३,	४,	५,	६,	७,	८,	९,	१०,	११,	१२,	१३,	१४
तुक	a	a	b	b	c	c	d	d	d	d	e	e	f	f

पद्य-संख्या ४ छन्द की मात्रा ३०

पंक्ति १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४
तुक a a b b c c d b c c e e a a

पद्य-संख्या ५ गीत है उसमें १४ पंक्तियाँ तो हैं पर पहली दो पंक्ति टेक की है। इसलिए यह सॉनेट नहीं ही है ।

पद्य-संख्या ६ छन्द की मात्रा ३०

तुक-प्रणाली

पंक्ति १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४
तुक a a b b c c c c a a a a e e

पद्य-संख्या ७, ८, ९ गीत हैं।

पद्य-संख्या १० छन्द की मात्रा ३२

तुक-प्रणाली

पंक्ति १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४
तुक a a b a c a d a c a f a g a

पद्य-संख्या ११ छन्द की मात्रा ३१

तुक-प्रणाली

पंक्ति १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४
तुक a a a a a a a a b b a a a a

पद्य-संख्या १२ छन्द की मात्रा २४

तुक-प्रणाली

पंक्ति १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४
तुक a a b b c c d d e e f f g g

पद्य-संख्या १३ छन्द की मात्रा ३१

तुक-प्रणाली

पंक्ति १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४
तुक a a b b c c d d e e f f g g

पद्य-संख्या १४ अनुकान्त है।

पद्य-संख्या १५ अनुकान्त है।

पद्य-संख्या १६ अनुकान्त है।

पद्य-संख्या १७ अनुकान्त है।

पद्य-संख्या १८ अनुकान्त है।

पद्य-संख्या १९ अनुकान्त है।

पद्य-संख्या २० अनुकान्त है।

पद्य-संख्या २१ अनुकान्त है।

पद्य-संख्या २२ छन्द की मात्रा २८।

पंक्ति	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
तुक	a	a	b	a	c	a	d	a	e	a	f	a	g	a

पद्य-संख्या २३ छन्द की मात्रा ३०।

तुक की प्रणाली

पंक्ति	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
तुक	a	a	b	b	c	c	d	d	e	e	f	f	a	a

पद्य-संख्या २४ छन्द की मात्रा ३०

तुक की प्रणाली

पंक्ति	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
तुक	a	a	b	b	c	c	d	d	e	e	f	f	a	a

पद्य-संख्या २५ छन्द की प्रणाली

तुक की प्रणाली

पंक्ति	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
तुक	a	a	b	b	c	c	d	d	e	e	f	f	g	g

पद्य-संख्या २६ छन्द की मात्रा २१

प्रथम १२ पंक्ति में तुक की कोई प्रणाली नहीं है। अन्तिम दो पंक्तियों में तुक है।

पद्य-संख्या २७ छन्द की मात्रा ३०

तुक-प्रणाली

पंक्ति १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४

तुक a a b b c c d d e e f f a a

पद्य-संख्या २८ छन्द की मात्रा ३०।

तुक-प्रणाली

पंक्ति १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४

तुक a a b b c c d d d d e e f f

पद्य-संख्या २९ छन्द की मात्रा २४।

तुक-प्रणाली

पक्ति १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४

तुक a a b b c c d d e e f f g g

पद्य संख्या ३० छन्द की मात्रा २४

तुक प्रणाली

पंक्ति १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४,

तुक a a a a b b c c a a d d e e

यदि तुक की दृष्टि से विचार किया जाय तो इन ३० पदों में केवल निम्नलिखित १६ पद तुक वाले हैं :—

१, ३, ४, ६, १०, ११, १२, १३, २२, २३, २४, २५, २७, २८ २९, ३०।

तुकों के अनुसार इनका वर्गीकरण करने निम्नलिखित तथ्य सम्मुख आते हैं :—

पद्य संख्या २ के अनुसार तुक प्रणाली वाले पद—३, २८।
पद्य संख्या ४ के ,, ,, ,, —कोई भी नहीं।
,, ,, ६ ,, ,, ,, ,, — ,, ,,
,, ,, १० ,, ,, ,, ,, २२ ,,
,, ,, ११ ,, ,, ,, ,, —कोई भी नहीं
,, ,, १२ ,, ,, ,, ,, —१३, २५, २६
,, ,, २३ ,, ,, ,, ,, —२४, २७
,, ,, ३० ,, ,, ,, ,, —कोई भी नहीं।

इस प्रकार यदि देखा जाय तो प्रसाद जी ने इस क्षेत्र में ८ प्रकार की तुक प्रणाली का प्रयोग तथाकथित सॉनेटों में किया है। इन सोलह रचनाओं में से ४ पद्यों की तुक प्रणाली एक है। कालक्रम की दृष्टि से देखा जाय तो वे चारों रचनाएँ सन् १९१३ से ३३ तक की हैं। इसके पश्चात् का काल-क्रम की दृष्टि से उनकी एक चतुर्दशपदी उपलब्ध है—'स्वर्ण-संसार' इनका प्रकाशन चाँद में सन् १९३५ ई० में हुआ था। इसकी तुक प्रणाली पर उनकी प्रथम चतुर्दशपदी ठहरती है। इस प्रकार उनकी चतुर्दशपदियों का प्रारम्भ और अन्त जहाँ एक प्रकार की तुक प्रणाली पर है वही मात्रा की दृष्टि से महत्ता एक ही तुक प्रणालीवाली उपर्युक्त चार रचनाओं को मिलती है।

अब छन्द की दृष्टि से विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

छन्दों की दृष्टि से यदि उनका वर्गीकरण किया जाय तो निम्नलिखित तथ्य सम्मुख आते हैं:—

पद्य-संख्या २ वाले (३० मात्रा का छन्द)—३, ४, ५, २३, २४, २७
,, ,, १० ,, (३२ मात्रा का छन्द)—कोई नहीं
,, ,, ११ ,, (३१ मात्रा का छन्द)—१३
,, ,, १२ ,, (२४ मात्रा का छन्द)—२९, ३०
,, ,, २२ ,, (२८ मात्रा का छन्द)—कोई नहीं
,, ,, २६ ,, (२१ मात्रा का छन्द)—कोई नहीं

इस प्रकार यदि छन्दों की व्यवस्था देखी जाय तो सोलह सॉनेटों के लिये ६ छन्दों का प्रयोग प्रसाद जी करते हुए मिलते हैं। सबसे अधिक प्रिय छन्द उन्हें ३० मात्रावाला लगता है। यदि तुक और छन्द को मिलाकर तुकवाला वर्गीकरण देखा जाय तो एक ही छन्द और एक ही तुक प्रणाली पर वर्गीकरण इस रूप में होगा :—

पद्य-संख्या २ के अनुसार पद ३

पद्य-संख्या १२ के अनुसार पद २६

अर्थात् दो प्रणालियों पर दो दो रचनाओं में मात्रा एवं तुक दोनों का साम्य मिलता है। इसलिए भले ही प्रसाद जी यह कहें कि उन्होंने तीन छन्दों में सॉनेट लिखा पर यह १६१५ की बात है। समग्र रूप से उनके सॉनेटों पर शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर वे सॉनेटकार नहीं ठहरते, उसके प्रयोगकर्ता मात्र हैं।

सानेट पर उनका प्रयोग जीवन-पर्यन्त चलता रहा पर कोई रास्ता वे ऐसा न निकाल सके जिससे परवर्ती साहित्य प्रभावित होता।

कहनेवाले यह कह सकते हैं कि वे अत्यन्त गम्भीर भविष्यद्रष्टा साहित्यकार थे, इसलिए आज जैसे विदेशों में तुक का बन्धन उठा दिया गया है उससे आगे बढ़कर उन्होंने छन्द तथा तुक का बन्धन उठा दिया। प्रसाद के प्रति गम्भीर आस्था रखते हुए भी, ऐसा मानने को जी तैयार नहीं। इसलिए सॉनेट के क्षेत्र में मैं उन्हें प्रयोगकर्ता ही मानता हूँ। वह प्रयोग उन्होंने बहुत पहले किया। प्रयोग की यह महत्ता अपना ऐतिहासिक महत्व रखती है।

[११]

काशिराज-दरबार के कवि और साहित्यकार

वर्त्तमान काशी राज्य की स्थापना जिस समय हुई उस समय साहित्यिक दृष्टि से हिन्दी साहित्य के रीति-काल का उत्तरार्ध था। उस समय न केवल हिन्दी-साहित्य में श्रृङ्गार के गीतों द्वारा अलंकार शास्त्र की मर्यादा की गयी अपितु फुटकर कुछ भक्ति के गीतों एवं अन्य प्रकार की रचनाएँ भी हुईं।

काशी के हाथ में सदैव से ही हिन्दी का नेतृत्व रहा है। इस काल में भी वह किसी अन्य स्थान से पीछे न थी। इसका सारा श्रेय काशीराज्य को रहा है।

उक्त समय यह परम्परा थी कि प्रत्येक राज दरबार में कुछ कवि (प्रायः चारण) लोग रहा करते थे, वे राजाओं की इच्छा-पूर्ति के लिए रचनाएँ किया करते थे। राज्य से ही उनका भरण-पोषण आदि होता था। जो राजा जिस विचार का होता था, उसके यहाँ उसी प्रकार की रचना होती थी। उस काल की रचना से किसी राज्य के भी शासक का नैतिक स्तर नापा जा सकता है। काशिराज इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

इस रीति काल में जितने कवि और कलाकार यहाँ हुए, यदि हिन्दी साहित्य का अध्ययन करते समय उनकी उपेक्षा की जाय तो हिन्दी साहित्य का अध्ययन अधूरा रह जायेगा। इसलिए नहीं कि कम संख्या में कवियों का परिचय मिलेगा, बल्कि इसलिए कि इस छोटे से भूभाग में इतनी वैभवशाली रचनाएँ इतने बृहद परिमाण में इतनी सुन्दर ढंग से की गई कि उनका अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

प्रारम्भसे यह राज्य संस्कृति, कला एवं साहित्यका उपासक रहा है यद्यपि यहाँ साधना चरम परणति तक नहीं पहुँच सकी तो भी इसका महत्त्व है और इस

महत्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस राज्य के इतिहास का अध्ययन करते समय हमारे सम्मुख कुछ ऐसे देदीप्यमान साहित्यिक नक्षत्र जगमगा उठते हैं जो अपने समकालीन कुछ राजा एवं अन्य दरबारी कवियोंको काफी पीछे छोड़ देते हैं।

काशी-राज्य में जो कवि हुए प्रायः राजा के आश्रय में रहते थे और उनकी आज्ञानुसार उनके मनोरंजनार्थ ही रचना करते थे। किन्तु अन्य स्थानों के इस ढंग के दरबारी कवियों और इन कवियों में यह अन्तर था कि ये राजा की इच्छा के गुलाम न होकर स्वतन्त्र विचारक एवं साधक भी थे। यहाँ के राजा उनके गुणों पर इतने मन्त्र-मुग्ध थे कि वे उन्हें अपना कर रखना चाहते थे और उनका वियोग उन्हें सह्य नहीं था। इसलिए उनकी स्वतन्त्र कार्यशैली एवं स्वतन्त्र विचार धारा में कोई बाँधा न पड़ती थी। इसी का परिणाम है कि रीतिकाल में जितनी वृहद, सुन्दर एवं साहित्यिक रचनाओं का सृजन यहाँ हुआ वह अन्यत्र न हो सका। उन कवियों की कृतियाँ अभी सुरक्षित हैं।

इन महत्तर साहित्यक-साधकों में कुछ विशिष्ट लोगोंका परिचय यहाँ दिया जा रहा है:—

रघुनाथ

यह वही आपके चिर परचित कवि हैं जिनकी ये पंक्तियाँ आप प्रायः गुनगुनाया करते हैं—

"मैं मन बीच विचारि लख्यो,
है बनारस में न भिला रस कोऊ।"

आपके ये प्रिय कवि महाराज बारिबंड सिंह के समय में हुए थे तथा उनके दरबार के एक रत्न थे। महाराजा ने इनकी रचनाओं पर प्रसन्न होकर 'चौरा' नामक ग्राम इन्हें पुरस्कार स्वरूप दिया था। इनके पुत्रों ने काशीराज्य तथा हिन्दी साहित्यकी निरन्तर सेवा की तथा परम्परया काशिराज के आश्रित रहे। इनके पुत्र गोकुलनाथ, पौत्र गोपीनाथ तथा गोकुलनाथ के शिष्य मणिदेव हिन्दी की विभूति हैं।

महाराज काशीनरेश के निजी पुस्तकालय में मुझे आपके चार ग्रन्थ-रत्न मिले। उनके नाम क्रमशः काव्य-कलाधर, रसिक मोहन, जगत-मोहन, तथा इश्क-महोत्सव हैं। इनका कविता काल रामचन्द्र शुक्ल तथा उक्त पुस्तकालय के पुस्तकाध्यक्ष के कथनानुसार सं० १७६० से १८१० वि० तक है।

आपकी कविताओं में प्रसाद गुण है तथा रस की एक मद भरी भंगिमा है जिसमें हृदय स्नान करते करते ऐसा मुग्ध हो जाता है कि पुनः उससे बाहर नहीं निकलना चाहता।

ये केवल शृङ्गार के ही नहीं, वीर रसके भी प्रमुख कवि माने जाते हैं। इस क्षेत्र में भी इन्होंने काफी सफलता प्राप्त की।

यहाँ उनके अलग अलग ग्रन्थों पर विचार करना अनुचित न होगा।

'रसिक मोहन'

'रसिक मोहन' सं० १७६६ में रचित अलंकार-ग्रन्थ है। इसमें उदाहरण के लिए केवल शृंगार का ही नहीं अपितु वीर रस का भी प्रचुर परिमाण में उदाहरण दिया गया है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में, इसकी एक अच्छी विशेषता यह है कि 'इसमें अलंकारों के उदाहरण में जो पद्य आये हैं उनके प्रायः सब चरण प्रस्तुत अलंकार के सुन्दर और स्पष्ट उदाहरण होते हैं।' इस प्रकार इनके कवित्त या सवैया का सारा कलेवर अलंकार को उदाहृत करने में प्रयुक्त हो जाता है। भूषण आदि बहुत से कवियों ने अलंकारों के उदाहरण में जो पद्य रखे हैं उनका अन्तिम या कोई चरण ही वास्तव में उदाहरण होता है।' उपमा के उदाहरण में उनका निम्नांकित पद बड़ा ही प्रसिद्ध है।

फूलि उठे कमलसे अमल हितू के नैन,
कहै रघुनाथ भरे चैन रस सिय रैन।
दौरि आये भौंरसे करत गुनी गुन गान,
सिद्धसे सुजान सुख सागर सों नियरे॥
सुरभिसी खुलन सुकविकी सुमति लागी,
चिरिया सी जागी चिन्ता जनक के जियरे।

धनुप पैठाढ़े राम रविसे लसत आजु,
भोर कैसे नखत नन्दि भये पियरे ।

उपर्युक्त उदाहरण से यह बात स्पष्ट प्रकट हो जाती है कि प्रत्येक चरण में एक अलंकार है। यह कल्पना कवि की मौलिक है। यह बात इस तथ्य का प्रमाण है कि भाषा के ऊपर उस कलाकार का व्यापक अधिकार था।

काव्य-कलाधर

'काव्य-कलाधर' सं० १८०२ की रचना है। इसमें भाव-भेद, रसभेद, नायिका और नायक भेद का विस्तृत एवं सुन्दर वर्णन है। इसका उद्देश्य विषय निरूपण मात्र नहीं। यह कला-कृति भी काफी सुन्दर बन पड़ी।

जगत-मोहन

जगत-मोहन का रचना-काल काशीराज के पुस्तकालय के अध्यक्ष के अनुसार सं० १८०७ है। इस ग्रन्थ-रत्न में एक वैभवशाली, पराक्रमी तथा आदर्श राजा की दिनचर्य्या का वर्णन किया गया है। इस ग्रंथ में भगवान कृष्ण को चरित नायक मानकर उनके १२ घण्टों के दैनिक कार्य का वर्णन है। इस वर्णन में उक्त वैभव की स्पष्ट झलक दिखायी पड़ती है जो कि वारिवंड सिंह के समय वर्त्तमान थी। इस ग्रन्थ के अध्ययन करने से यह तथ्य स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि कवि केवल साहित्य का ही जानकार नहीं, अपितु विविध शास्त्रों का ज्ञाता भी है। १२ घंटों के दैनिक कार्यक्रम का वर्णन काफी विस्तार से किया गया है। यह कवि की काव्य-क्षमता का परिचायक है। यद्यपि यह ग्रन्थ काव्य में ही लिखा गया है तो भी इसे विशुद्ध काव्य-ग्रन्थ न मानकर समाज-शास्त्र का ग्रन्थ मानना अधिक उत्तम होगा। इस ग्रन्थ में निम्नांकित विषयों की चर्चा की गयी है। यथा; राजनीति; खेल, (शतरंज). शिकार (मृगया) शासन, नगर प्रबंध, ज्योतिष; समुद्र शास्त्र, शालीहोत्र, रत्ना आदि विविध विषयों का सुन्दर वर्णन इसमें है।

'इश्क-महोत्सव'

इस ग्रन्थ के नाम से ही यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि इसमें उस समय

में फ़ारसी की ओर झुकती हुई हिन्दी का व्यामोह है। इस ग्रन्थ में खड़ी बोली में प्रेम (इश्क) सम्बन्धी रचनाएँ की गई हैं। इसे हम हिन्दी की उर्दू शैली का एक रूप मानें तो कोई ग़लती न होगी।

यह ग्रन्थ इस बात का परिचायक है कि कवि तत्कालीन शास्त्रीय हिन्दी के साथ ही साथ खड़ी बोली पर भी अपना खासा अधिकार रखता था। ये रचनाएँ उतनी सशक्त नहीं जितनी विशुद्ध हिन्दी की उनकी रचनाएँ हैं। आपकी कुछ रचनाओं का उदाहरण नीचे दिया जाता है:—

ग्वाल संग जैवो, ब्रज गैयन चरैबो ऐबो,
अब कहा दाहिने ये नैन फरकत हैं।
मोतिन की माल वारि डारौं गुंजमालन पर
कुंजन की सुधि आये हियो फरकत हैं।
गोबर को गारो रघुनाथ कछु यातें भारो,
कहा भयो महलनि मन भरकत हैं।
मंदिर हैं मंदिर ते ऊँचे मेरे द्वारका के,
ब्रज के खरिक तऊ हिये खरकत हैं।

कैधों सेस देसतें निकसि पुहुमी पै आय,
बदन उचाय बानी जस—असपंद को।
कैधों छिति चँवरी उसीर की दीखावलि है,
ऐसी सोहै उज्जवल किरन जैसे चंद की।
आनि दिगपाल नृपाल नन्दलाल जू को,
कहैं रघुनाथ पाय सुघरी अमंद की।

छूटत फुहारे कैधों फूल्यों हैं कमल, तासों,
अमल अमंद कढ़ै धार मकरन्द की।
सुघरे सिकाह राखै, वायु वेग चाह राखै,
रसद की राह राखै, राखै रहे बैन को।

चोर को समाज राखै, बाजाओं नजर राखै,
खबरि के काज बहुरूपी हर फन को॥
आगम मखैया राखै, सगुन लेवैया राखै,
कहैं रघुनाथ औ बिचार बीच मन को।
बाजी हारे कबहूँ न अवसर के परे जौन,
ताजी राखै प्रजन को, राजी सुभटन को।

× × ×

आप दरियाव, पास नदियों के जाना नहीं,
दरियाव पास नदी होयगी सो धावैगी।
दरखत बेलि-आसरे को कभी राखता न,
दरखत के ही आसरे को बेलि पावैगी।
मेरे तो लायक जो सो कहा मैंने,
रघुनाथ मेरी मति न्याग ही को गावैगी।
वह मुहताज आपकी है, आप उसके न,
आप क्यों चलोगे ? वह आप पास आवैगी॥

उपर्युक्त उदाहरण उक्त कवि की काव्य-कला के जागरूक प्रमाण हैं। अनुप्रास एवं अलंकार की छटा के साथ ही साथ धारावाहिक बोध गम्य भाषा उनकी काव्य शक्ति का परिचायक है। आपकी रचनाओं में सर्वत्र प्रसाद गुण हमें मिलता है। ये बड़े-बड़े ग्रन्थ केवल विशालकाय ही नहीं हैं उनमें कदम्ब के पुष्पों-सा सौंदर्य, कमनीय कलेवर तथा एक आकर्षक लोच है जो स्फूर्ति दायी तथा चेतनामय है।

आप इस नवीन राज्य के प्रथम विशिष्ट कवि थे जिनके बिना रीतिकालीन हिन्दी-साहित्य का एक कोना अछूता रह जाता है।

ये तीन महारथी

इन तीन महारथियों से मेरा अभिप्राय है :—गोकुलनाथ

गोपीनाथ

मणिदेव

ये कौन थे, यह तो पहले ही रघुनाथ कवि के सिलसिले में बताया जा चुका है।

इन तीनों ने मिलकर प्रबन्ध-साहित्य का इतना महद् काव्य निर्मित किया जितना बड़ा काव्य आजतक हिन्दी-साहित्य में कोई निर्मित न कर सका। इसके लिए हिन्दी साहित्य आप लोगों का सदैव ऋणी रहेगा।

महाभारत और हरिवंश का विविध छन्दों में बड़ा ही सुन्दर आप लोगों ने अनुवाद हिन्दी जगत को दिया। २००० पृष्ठों के इस ग्रन्थ को मैंने देखा है यह ग्रन्थ सुन्दर अक्षरों में काशीनरेश के निजी पुस्तकालय 'सरस्वती भवन' में अप्रकाशित ही पड़ा है। इतने बड़े प्रबन्ध-ग्रन्थ में कहीं भी शैथिल्य-दृष्टिगत न हुआ और न तो कहीं काव्यकला की हत्या ही की गयी है। आरम्भ-से अन्त तक रोचकता बनी रहती है।

इस ग्रन्थ के आरम्भ में काशीराज्य का वंश वर्णन भी पद्य में दिया गया है, जो इतिहास की महत्वपूर्ण सामग्री है। छन्दों का विधान अत्यन्त उचित एवं सुन्दर हुआ है। छन्दों की धारावाहिकता का निरन्तर निर्वाह सफलता-पूर्वक किया गया है। बीच-बीच में दोहे और चौपाइयों के साथ रूपमाला घनाक्षरी, सवैया आदि का सम्यक् और सुव्यवस्थित प्रयोग हुआ है।

आचार्य शुक्लजी के शब्दों में "यह रचना सब प्रकार से साहित्यिक और मनोहर है तथा लेखक की काव्य कुशलता का परिचय देती है।"

इसकी रचना महाराजा उदितनारायण सिंह के आज्ञानुसार हुई है। इसकी रचना का व्यय भार अनुमानतः ३ लाख रुपया पड़ा था। इससे उस महाराज की अमर कीर्ति एक साहित्य सेवी के रूप में सदैव हिन्दी जगत में वर्त्तमान रहेगी। किन्तु यह ग्रन्थ अभीतक अप्रकाशित पड़ा है। यह दुःख की बात है।

इतने सुन्दर काव्य-ग्रन्थ का अभी तक प्रकाशित न होना हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा नागरी प्रचारिणी सभा के लिए विचार की वस्तु है।

सम्वत् १८२८ में इस ग्रन्थ की रचना आरम्भ हुई तथा १८५० में इसकी पूर्णाहुति हुई। इसमें दो तीन शैलियों की भिन्नता दिखती है किन्तु इस विभिः ता से कोई गति में बाधा नहीं पड़ती बल्कि एक प्रकार का परिवर्त्तन होता है जो अधिक सुन्दर लगता है।

यह पहले कहा गया है कि गोकुलनाथ और गोपीनाथ बन्दीजन के पुत्र एवं पौत्र थे। मणिदेव भरतपुर राज्य के जहानपुर ग्राम के निवासी थे। आप अपनी विमाता के दुर्व्यवहार से काशी चले आये थे। आप गोकुलनाथ जी के शिष्य थे और वहीं रहते भी थे। सम्वत् १९२० में इनकी मृत्यु हुई। जीवन के अन्तिम काल में ये प्रायः विक्षिप्त रहा करते थे।

गोकुलनाथ के अन्य ग्रन्थों का नाम निम्नांकित है :—

चेत चन्द्रिका, गोविन्द सुखद बिहार, राधाकृष्ण विलास, (सं० १८५८) राधा-नखसिख, नामरत्नमाला (कोश सं० १८७०) सीताराम गुणार्णव, अमर-कोष भाषा (सं० १८७०) तथा कवि मुख मंडन।

ये सभी पुस्तकें सरस्वती भवन में उपलब्ध हैं।

चेतचन्द्रिका यह अलंकार का ग्रन्थ है। इसमें काशीराज्य की वही वंशावली दी गयी है जो महाभारत में है।

राधाकृष्ण विलास—रस का सुन्दर ग्रंथ है।

सीताराम गुणार्णवः—यह राम की पूरी कथा है जो अध्यात्म रामायण का अनुवाद है। इस ग्रंथ-रत्न में भी उदितनारायणसिंह ने काफी रुपया खर्च किया इस रामायण में दोहे चौपाई के साथ बड़े सुन्दर-सुन्दर चित्र दिये गये हैं। कहा जाता है कि इन चित्रों में जवाहिरातों को रगड़-रगड़ कर रंग भरा गया था। ग्रंथ काफी सुन्दर है प्रदर्शनियों में यह प्रायः आया करता है।

गोविन्द सुखद बिहार—साहित्यिक दृष्टि से इसका विशेष महत्व नहीं। इसमें गोविन्द की गाथा गायी गयी है।

राधा नखशिख—परम्परानुगत नखशिख का वर्णन इस ग्रन्थ में मिलता है।

नाम रत्नमाला—यह एक कोश है।

अमरकोष भाषा—इस ग्रन्थ में हिन्दी में अमरकोष की रचना की गयी है।

कवि मुखमंडन—अलंकार सम्बन्धी ग्रंथ है।

इतनी विविध सिद्ध हस्त रचनाएँ कवि की साहित्यिक मर्मज्ञता तथा कलात्मक उच्चता का परिचायक है। इस कवि के अतिरिक्त रीति काल का कोई भी अन्य कवि एक साथ प्रबन्ध रचना और रीति ग्रन्थ रचना में इतना निपुण और सिद्ध हस्त नहीं हुआ।

महाभारत का अनुवाद करते समय जहाँ जिसने अनुवाद किया है वहाँ उस कवि का नाम दिया हुआ है—अब इन महारथियों की काव्य कला की कुछ छवि देखें—

जाहि सुदेष्णा की सुआज्ञा नीच-कीचक जौन।
आय सिंहनी पास जंबुक तथा कीनो गौन,
लख्यौ कृष्णा सों कहन या भाँति समिति बैन।
यहाँ आई कहाँ ते ? तुम कौन हो छबि ऐन ?
नहीं तुमसी लखी भूपर मरी सुषमावाम।
देवी, जच्छनी, किन्नरी, केशी, सची अभिराम॥
कांति सो अति भरो तुम्हरो लखत बदन अनूप।
करैगो नहीं सबसे काको महामन्थन भूप॥
दुर्ग अति ही महत मंडित भटन सो चहुँ ओर।
ताहि घेरयो शाम भूपति सैन लै अति घोर॥
एक मानुष निकसिबे की रही कतहुँ न राह।
यही सेना शाल्व नृप की भरी जुद्ध उछाह॥
(—महाभारत)

गोकुलनाथ

सखिन के श्रुति में उकुति कल कोकिल की,
गुरुजन हूँ मैं पुनि लाज केकयान की।

गोकुल अमल चरनांबुज पै गुंज पुंज,,
धुनि-सी चढ़त चंचरीक चरनान की ॥
पीतम के श्रवन समीप ही जुगुति होहिं,
मैन तन्त्र-मंत्र के बनर गुन-गान की।
सौतिन के कानन में हलाहल ह्वै हलति,
परी सुखदानी ! तौ बजनि बिछुवान की ॥
(राधाकृष्ण विलास)

गोपीनाथ

सर्वदिसि मे फिरति भीषम की सुरथ मन-मान।
लखे सब कोऊ तहाँ भूप अलात चक्र समान ॥
सर्वं थरि सब रथिन सों तेहि समय नृप
सब ओर।
एक भीषम सहस्र समरन जुरो हो तहँ जोर ॥

मणिदेव

बचन यह सुनि कहत भो चक्रांग हंस उदार।
उड़ौगे मम संग किमि तुम कहहु सो उपचार ॥
खाय जूठो पुष्ट, गर्वित काग सुनि ये बैन।
कह्यौ जानत उड़नकी शत रीति ये बलपून ॥

मनियार सिंह

ये काशी के एक क्षत्री थे तथा राज्य से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध भी था। ये अच्छे कवि थे। इनकी रचनाओं में अनुप्रास की छटा बड़ी ही सुन्दर बन पड़ी है। इनकी रचनाएँ शालीन, ओजपूर्ण, परिमार्जित एवं सरस होती थीं। कहीं भी इन्होंने शालीनता की सीमा का उल्लंघन नहीं किया है।

विशेषकर स्तुति-सम्बन्धी इनकी रचनाएँ अपना विशेष महत्व रखती हैं। इनकी पहली रचना 'महिम्न भाषा' सं० १८४१ की रचना है। इसके अतिरिक्त आपकी निम्नांकित अन्य पुस्तकों का भी पता चला है—'सौन्दर्य-लहरी'

हनुमत छत्तीसी, सुन्दरकांड। 'सौन्दर्य लहरी' में इन्होंने अपनी आराध्य देवी पार्वती की स्तुति की है। ये स्तुतियाँ साहित्य की अच्छी निधि हैं। 'हनुमत छत्तीसी' में हनुमानजी के पराक्रम का गुणगान है। 'सुन्दरकांड' भी इनका रामायण के आधार पर लिखा हुआ एक सुन्दर काव्य है। आपकी विभिन्न पुस्तकों से उद्धृत कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं—

मेरो चित्त कहाँ दीनता में अति दूबरो हैं,
अधरम-धूमरो न सुधि के सँभारे पै।
कहाँ तेरी ऋद्धि कवि बुद्ध-धरा ध्वनि तें,
त्रिगुण तें परे है दिखात निरधारे पै॥
मनियार यातें मति थकित जकित ह्वै कै,
भक्ति बस धरि उर धीरज बिचारे पै।
विरची कृपाल वाक्यमा पुहुप दंत,
पूजन करत काज चरण तिहारे पै॥

× ×

अभय कठोर बीति पुनि लछमन जूकी,
बारिबे को चाहि जो सुधारि खल तरवारि।
बीर हनुमंत तेहि गरजि सुहास करि,
उपटि पकारे जीव भूमि लै परे पछारि॥
पुच्छतें लपेटि फेरि दंतन दरदराइ,
नखन बकोटि चौंथि देत माँहि डारि डारि।
उदर विदारि भारि लुत्थन कों टारि बीर,
जैसे मृगराज गजराज डारै फोरि फारि॥

× ×

तेरे पद-पंकज-पराग राज राजेश्वरी
वेद-बन्दनीय बिरुदावली बढ़ी रहै।
जाकी किनुकाई पाय धाता ने धरित्री रची,
जापै लोक लोकन की रचना कढ़ी रहै॥

मनियार जाहि विषाद सेवैं सबै पोषत मैं,
सेसहुँके सदा सीस सहस मढ़ो रहै।
सोई सुरासुरके सिरोमनि सदा शिवके,
समयके रूप ह्वै सरीरपर चढ़ी रहै।

रामसहाय दास

महाराजा उदितनारायण सिंह भी बड़े ही विद्या-मर्मज्ञ तथा कला के उपासक थे। इनके समय में भी साहित्यिक प्रगति ने अपना क्रम पूर्ववत् रखा। उक्त रामदास महोदय चौबेपुर के निवासी थे। आपके पिता का नाम लाला भवानीदास था। ये महाराजा साहब के दरबार के प्रमुख राज-कवि थे।

महाराजा के अनुरोध पर 'बिहारी-सतसई' की भाँति आपने दोहों में 'रामसतसई' नामक ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ बिहारी के अनुकरण पर बने सभी ग्रन्थों में सर्वाधिक विख्यात एवं सुन्दर है। यद्यपि बिहारी-सी सरसता इसमें नहीं है फिर भी यह प्रथम कोटि की रचना तो है ही। शब्द-विन्यास करने की कला तथा वाग्वैदग्ध्य में आशातीत सफलता कविने प्राप्त की है।

यद्यपि बिहारी-सी इसमें हृदय की गहराई नहीं फिर भी यह उत्तम ग्रन्थ है इसे हिन्दी के सभी मनीषियों ने एक स्वर से स्वीकार किया है।

इनकी अन्य पुस्तकों का नाम है—वाणी-भूषण, वृत्त तरंगिणी, और ककहरा।

'वाणी-भूषण' में अलंकार का परिचय ऐसा सुन्दर नहीं बन पड़ा है जैसी ऐसे कवि से आशा की जा सकती है। वृत्त तरंगिणी पिंगल का ग्रन्थ है। वाणी भूषण की अपेक्षा यह सुन्दर है। इसका रचना काल सं० १८७२ है।

'ककहरा' जायसी के 'अखरावट' के ढंग पर लिखा गया नीति और धर्म के दोहों का संग्रह है। यह रचना उनकी सबसे बाद की काव्य-कृति है।

इनका कविता-काल संवत् १८६० से १८८० तक आचार्य शुक्ल जी ने माना है किन्तु इसकी १८६० के पहले की भी रचनाएँ मुझे देखने को मिली हैं। नीचे उनके ग्रन्थ 'सतसई' के कुछ दोहे भी उद्धृत किये जा रहे हैं।

गड़े नुकीले लाल के, नैन रहे दिन रैनि।
तब नाजुक ठोड़ीन क्यों, गाड़ परे मृदु बैनि॥
भटकन, झटपट चटक के अटक मुकट के संग।
लटक पीत पटकी निपट हटकनि कटक अनंग॥
लागे नैना नैन मे कियों कहाँ धो मैन।
नहिं लागै नैना, रहैं लागे नैना नैन॥

× × ×

गुलफिन आगे ज्यों त्यों
गयो करि-करि साहस जोर।
फिरन फिर्‌यौ मुखन चापि,
चितअति खात मरोर॥
यों विभालि दसनावली
ललना बदन मँझार।
येतिको नातो मानि कै, मनु आइ उडु भार।

इन उदाहरणों से यह बात तो स्पष्ट प्रतीत होती है कि अनुप्रास की साहित्यिक छटा इस कवि में वर्तमान है। यह तो एक ठोस सत्य है कि असल-नकल का मुकाबला नहीं ही कर सकता फिर भी यह वह इमिटेशन पत्थर है जिसमें स्थायी रूप से चमक और दमक है।

गणेश

ये लाल कवि के पौत्र तथा गुलाब कवि के पुत्र थे। ये भी वही पुरानी बन्दीजनवाली परम्परा के कवि थे तथा महाराजा उदितनारायण सिंह के दरबार में रहा करते थे। महाराजा उदितनारायण सिंह की मृत्यु के पश्चात् भी महाराजा ईश्वरी नारायण सिंह के आश्रय में ये जीवित रहे।

सरस्वती भवन में इनके तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

(१) बाल्मिकी रामायण श्लोकार्थप्रकाश (बालकाण्ड सम्पूर्ण तथा किष्किंधा के पाँच अध्याय)।

(२) प्रद्युम्न विजय नाटक।

(३) हनुमत पचीसी।

आप एक जनप्रिय कवि तो हुए किन्तु साहित्यिक दृष्टि से आपका विशेष महत्त्व नहीं है।

आपने प्रद्युम्न विजय-नाटक पद्य में लिखा। यह सात अंकों में समाप्त हुआ है। इसमें प्रभावती के गन्धर्व विवाह की कथा वर्णित है।

यद्यपि इसमें नाटक के विभिन्न अंगों का दिग्दर्शन कराया गया है तो भी इतिवृत्तात्मकता के अभाव में उचित मात्रा में नाटकत्व का गुण नहीं आया है। उदाहरण स्वरूप उसमें से एक अंश नीचे दिया जा रहा है:—

ताही के उपरान्त कृपक छंद आवत भए।
भेंटि परस्पर पांत बैठ सभासद मध्य तहँ॥
बोलि हरि इन्दु-सों बिनै कर जोरि दोऊ,
आज दिगविजय हमारे हाथ आयो।
मेरे गुरुलोग सब तोषित भए हैं आज,
पूरी तपदान, भाग्य सफल सुहायो है॥
कारज समस्त सरे, मन्दिर में आए आप,
देवन के देव मोहि, धन्य ठहरायो है।
सो सुनि पुरंदर उपेंद्र लखि आदर कों,
बोले सुनों बंधु! दानवीर नाम पायो है॥

गणेश कवि का आदर अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् महाराजा ईश्वरी-नारायण सिंह भी निरन्तर करते रहे। यह बात निम्नांकित घटना से प्रकट हो जाती है।

जब प्रिन्स आव वेल्स काशी आये थे तब गणेश कवि ने काशीराज की प्रशंसा पर एक कविता लिखी थी उसपर वे बड़े प्रसन्न हुए तथा इनका काफी सत्कार किया। उक्त कविता है:—

राजन-महाराजन की गिनती गिनावे कौन।
जहाँ साहजादे पाँव प्यादे चलि आवते।

महाराजा ईश्वरी प्रसाद नारायण सिंह भी महाराज उदितनारायण सिंह की तरह काव्य कला के मर्मज्ञ तथा प्रेमी थे। आप स्वयं भी कवि थे। इसीलिए अपने पिता की पुरानी कवि-परिपाटी आपने कायम रखी। आप विद्वानों के बड़े प्रेमी थे।

आपके दरबार में बड़े उच्च कोटि के कलाकार तथा विद्वान रहा करते थे।

सर्वश्री गणेश, हनुमान, सरदार, नारायण दत्त, द्विज, भला पण्डित, तथा बाबू चन्द्रभान सिंह का आप बड़ा मान करते थे। दत्त कवि स्वर्गीय पण्डित अम्बिकादत्त व्यास के पिता पं० दुर्गादत्त व्यास थे।

इन सब के अतिरिक्त आधुनिक हिन्दी साहित्य के जन्मदाता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की आप से घनिष्ठता थी। राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द से भी आपकी घनिष्ठता थी और आप प्रायः रामनगर जाया करते थे। एक बार ईश्वरीनारायण सिंह ने भारतेन्दु की फिजूल खर्ची पर कहा था कि पानी की तरह रुपया न बहाओ उसपर उन्होंने मुसकराते हुए कहा था कि मेरे घरवालों ने लक्ष्मी एकत्रित की। मैं उसे लुटाने का का मजा लेना चाहता हूँ।

सरदार और नारायण

कवि नारायण सरदार कवि के शिष्य थे। सरदार कवि अपने समय के प्रथमकोटि के कवि माने जाते हैं। इनका सूचना काल सं० १६०२ से १६४० तक माना जाता है।

इनका रचनात्मक प्रकाश सं० १६०६ में पूर्ण हुआ था।

पहले सरदार कवि टीकमगढ़ राज्य के दरबारी थे। आप वहाँ से काशी आये और महाराजाकी गुणग्राहकता पर इतने मुग्ध हुए कि फिर काशी से लौटकर आने का नाम तक नहीं लिया।

ये बड़े ही साहित्य मर्मज्ञ तथा प्रथमकोटि के कवि थे। इन्होंने अपने शिष्य नारायण के सहयोग से केशव, सूर तथा बिहारी पर बहुत बड़ी-बड़ी टीकाएँ की हैं। टीका में भूलें अवश्य हुई हैं। किन्तु उस समय के दृष्टि से यह प्रयत्न प्रशंसनीय है। इन्होंने 'कविप्रिया', रसिकप्रिया सूर के दृष्टिकूट एवं बिहारी

सतसईपर भी टीका की है। इन टीकाओं के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि इनकी टीकाएँ बहुत अच्छी हैं।

इसके अतिरिक्त आपने निम्नांकित उच्चकोटि के अन्य ग्रन्थों का भी प्रणयन किया।

साहित्य सरसी, वाग्विलास, षटऋतु, हनुमत भूषण, तुलसीभूषण, शृङ्गार-संग्रह, रामरत्नाकार, साहित्य-सुधाकर, रामलीला-प्रकाश ।

श्री कृष्णशंकर शुक्ल एम० ए० ने लिखा है कि 'वाक्-विलास' नामक पुस्तक जिसे कुछ लोग भ्रमवश, सरदार कवि की रचना समझते हैं, वास्तव में सेवक कवि की है। यह स्वयं श्री कृष्णशंकर शुक्ल का भ्रम है न कि हिन्दी के विद्वानों का। स्वयं शुक्लजी ने इसे सरदार की रचना बतायी है और अब भी वह सरस्वती-भवन में पड़ी है। हाँ सेवक-कवि ने अवश्य वाक्-विलास की रचना की थी, पर वह अलग ग्रन्थ है। दोनों दो ग्रन्थ हैं और दो कवियों के लिखे हुए हैं। दोनों का सम्बन्ध काशीराज से रहा है।

सेवक

ये असनी वाले ठाकुर कवि के पौत्र थे और काशी के रईस बाबू देवकी-नन्दन ने प्रपौत्र बाबू हरिशंकर के आश्रय में थे। ये राजा शिव प्रसाद सितारे-हिन्द के भी प्रिय-पात्र थे। आपने एक बार सितारे-हिन्द से कहा था कि पार्लिया-मेंट मैं शिकायत करने वाला हूँ कि आपको सितारे-हिन्द की जगह 'आफताब हिन्द की उपाधि मिलनी चाहिए। एक बार महाराजा ईश्वरी नारायण सिंह हरिशंकर जी के यहाँ इनसे मिलने स्वयं पधारे थे और इनके बीमार रहने पर इनके यहाँ नियमित आदमी भेजते रहते थे।

आप ब्रजभाषा के अच्छे ज्ञाता एवं कवि थे। इन्होंने "वाक्-विलास" नामक नायिका-भेद का एक बड़ा भारी ग्रन्थ लिखा है। इनका समय संवत् १८७२ से १९३८ तक है। इसके अतिरिक्त एक छोटा नखशिख-वर्णन भी आपने बरवा छन्द में लिखा। आपकी रचनाओं का जनता में बड़ा काफी प्रचार हुआ। आप अब भी ये गीत सुनेंगे—

कवि सेवक बूढ़ भये तो कहा,
पै हनौज है मौज मनौज ही की।

काष्ठ-जिह्वा स्वामी

आप देव स्वामी के नाम से विख्यात थे। आप श्रीईश्वरीनारायण सिंह के गुरु थे। आप फक्कड़, संत एवं कवि थे। आपने सैकड़ों पुस्तकों की रचना की थी। ये रचनाएँ भी आपके विविध विषयों के ज्ञान की परिचायिका हैं। आपके ये ग्रन्थ सभी विषयों पर लिखे गये हैं। साहित्य की महत्ता की दृष्टि से ये अधिक ऊँचे नहीं उठ सके हैं फिर भी इनमें ज्ञान, अनुभव तथा फक्कड़पन है।

कहा जाता है कि आप अपने मुँह में काठ की एक जिह्वा लगाये रहते थे क्योंकि आपने एक बार एक व्यक्ति को गाली दे दी थी। तब से प्रायः मौन रहा करते थे। कुछ लोगों का कहना था कि इससे इनकी जिह्वा को कोई स्वाद नहीं मिलता था। यही उनको विरक्ति की ओर उन्मुख किये रहती थी।

आपके कुछ ग्रन्थों की सूची नीचे दी जा रही है—अशौच-विचार, तिथि-विचार, बारहो संक्रान्ति स्नान।

भक्ति सम्बन्धी—अयोध्या विन्दु, अश्विनी कुमार विन्दु, उज्जैनविन्दु, उपासना सर्वस्व, कातिविन्दु, काशीविन्दु, कृष्णचरण परिचर्य्या, गया विन्दु।

महाराजा ईश्वरी नारारायण सिंह

आप स्वयं एक काव्य प्रेमी होने के अतिरिक्त कवि भी थे। आप स्वयं कविता करते थे। आपकी पुस्तक 'बाल-प्रबोध' बच्चों के लिए उस समय लिखी गयी थी जब बाल-साहित्य का सर्वथा अभाव था। अगर आपको बालकों के साहित्य का आधुनिक हिन्दी में जनक कहा जाय तो कोई अत्योक्ति न होगी। आपकी 'अपूर्व कहानी' भी बड़ी सुन्दर कृति है उसकी सुन्दरता तथा भाव प्रवाह का पता उसके प्रथम छन्द से ही चल जाता है।

मगल मय अभिराम,
स्तुति श्यामा श्याम की।

काशीपति सुख-धाम,
गुरुदेवहिं को ध्याय पद।
प्रभु कीने अनुवाद,
तो ही लिखित रसक लसही।
तिनकौ पाय प्रसाद,
सरस मनोरथ होत हैं॥

ईश्वरी नारायण सिंह की फुटकर रचनाओं का संग्रह रस-समुद्र में है। इसके पश्चात् दरबारी कवियों की परम्परा समाप्त सी हो गयी। भारतेन्दु की युग श्री ने एक नया रास्ता हिन्दी के लिए उद्भूत किया जिसमें अपने मन के के गायक हुए, जिन्होंने अपने हृदय की साधना को ही आधार मान कर साहित्य की सृष्टि की।

[१२]

'सभा' और 'सरस्वती'

आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रगति का लेखा तबतक अधूरा रह जाता है जब तक मासिक पत्रिका 'सरस्वती' की चर्चा नहीं की जाती। इस पत्रिका ने बीसवीं शती में हिन्दी की जो सेवा की है वह सदैव श्रद्धा के साथ स्मरण की जाती रहेगी। यह कहना अनुचित न होगा कि इस शती के दो दशकों के हिन्दी-साहित्य की कहानी की प्रमुख नायिका 'सरस्वती' है।

स्वर्गीय आचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इसके माध्यम से नये-नये कर्मठ प्रतिभासम्पन्न लेखकों का पता लगाया। उन्हें प्रोत्साहित किया। प्रतिभा के सम्मान द्वारा अनेक महान् साहित्यकारों को 'सरस्वती' ने हिन्दी-जगत के सम्मुख उपस्थित किया। उस युग के प्रायः सभी प्रमुख साहित्यकार उसमें लिखते थे और अनेक तो उसकी देन हैं। हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, गोपालशरण सिंह, रामचरित उपाध्याय, रामनरेश त्रिपाठी जैसे प्रतिष्ठित कवियों को सरस्वती के माध्यम से लोगों ने पहचाना, जाना और माना। इस पत्रिका का आरम्भ भी काशी से ही हुआ था जो उसकी परम्परा के सर्वथा अनुकूल है।

प्रागैतिहासिक काल से ही काशी की रज में वह पराग वासित है जिसके स्पर्श मात्र से ही रोम-रोम में आलोकभरी ऐसी सिहरन अंगड़ाई ले उठती है जो मृत्यु के पश्चात् भी लोगों के मानस को दीप्त करती रहती है। समय-समय पर चेतना का जो कलरव यहाँ से गुंजित होता है वह जागरण-मंत्र बनकर लोक जीवन में प्रतिष्ठित हो जाता है। मेरा तो यह ध्रुव विश्वास है कि यदि काशी में निर्मित हिन्दी-साहित्य मात्र हिन्दी की सम्पत्ति मानी जाय तो हिन्दी के वर्तमान गौरव को किसी प्रकार का भी आघात नहीं पहुँचेगा। तुलसी और कबीर की इस

नगरी में हिन्दी-साहित्य के प्रति ममता व्यक्ति को धरती पर चरण रखते ही संस्कार के रूप में प्राप्त हो जाती है। हिन्दी के नवनिर्माण की दिशा भी सदा काशी से निश्चित की गयी। आज से लगभग ६० वर्ष पूर्व नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना अत्याधुनिक युग के लिए प्रगति का सबसे बड़ा वरदान प्रमाणित हुई। सभा ने हिन्दी की जो सेवा की है, वह जबतक हिन्दी रहेगी, तबतक बराबर स्मरण की जाती रहेगी। उसने ठोस-गम्भीर वाङ्मय का निर्माण तो किया ही, 'सरस्वती' का सम्पादन कर तथा हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की स्थापना कर हिन्दी के लिए राजपथ का निर्माण भी उसने किया।

इंडियन प्रेस का अनुरोध

सरस्वती के प्रकाशन के लिए सर्वप्रथम इंडियन प्रेस के मालिक ने २० अगस्त, १८९९ ई० को सभा के नाम एक पत्र प्रेषित किया, जिसमें सभा से सहायता और सम्मति की याचना की गयी थी। उसके पश्चात् होनेवाली सभा की प्रबन्ध-समिति में (सौर ५ भाद्रपद १९५६) वह पत्र विचारार्थ उपस्थित किया गया किन्तु उस दिन उस पर निर्णय अगली प्रबन्धसमिति के लिए स्थगित कर दिया गया। अगली प्रबन्धसमिति में सरस्वती के सम्बन्ध में निम्नलिखित निश्चय २६ भाद्रपद सौर संवत् १९५६ को हुआ—

'सभा इण्डियन प्रेस को सम्मति देती है कि वह उस पत्र को अवश्य निकाले क्योंकि उससे भाषा के उपकार की सम्भावना है।'

इण्डियन प्रेस को सम्मति तो मिल गयी पर उसकी दूसरी याचना के सम्बन्ध में सभा मौन थी। इण्डियन प्रेस सम्पादन का दायित्व सभा को सौंपना चाहता था। इण्डियन प्रेस की ओर से उसके लिए बार-बार प्रार्थना और आग्रह किया जाता रहा। यह आग्रह अन्ततोगत्वा सफल हुआ और सौर १४ मार्गशीर्ष संवत् १९५६ की सभा की प्रबन्धसमिति ने सम्पादन का भार सभा के पाँच सदस्यों पर सौंपा, जिनकी चर्चा यथास्थान की गयी है और 'सरस्वती' का पहला अंक जनवरी, सन् १९०० में प्रकाशित हुआ। पहला अंक आवरण लेकर ३६ पृष्ठों का था। उसका आकार डिमाई ८ पेजी था। आवरण पृष्ठ सादा एकरंगा था। उस पर दो पैनल बने थे। बायीं ओर का पैनल दाहिनी ओर के पैनल का लगभग एक-

तिहाई था। बायाँ पैनल तीन भागों में विभाजित था। ऊपर और नीचे का समान तथा बीच का बड़ा। उस पैनल में ऊपर सरस्वती का पुराने ढर्रे का छोटा-सा रेखाचित्र था जिसके नीचे 'सरस्वती श्रुति महती न हीयताम्' आदर्श-वाक्य लिखा था। बीचवाले पैनल में 'काशी नागरीप्रचारिणी सभा के अनुमोदन से प्रतिष्ठित' वाक्य था और तीसरे पैनल में 'सम्पादकसमिति' का नाम निम्नलिखित क्रम से था—

सम्पादकसमिति

(१) बा० कार्तिकप्रसाद खत्री
(२) पं० किशोरीलाल गोस्वामी
(३) बा० जगन्नाथदास बी० ए०
(४) बा० राधाकृष्णदास
(५) बा० श्यामसुन्दरदास बी० ए०

दाहिनी ओर के पैनल में ऊपर से नीचे तक निम्नलिखित क्रम से यह छपा था—

सरस्वती	(२ पै०)
सचित्र हिन्दी	
मासिक पत्रिका	(१२ पा० सादा)
प्रथम भाग	(१२ पा० सादा)
स० १९०० ई०	(१२ पा० सादा)
इण्डियन प्रेस प्रयाग से छपकर मुद्रित	(,,)

पहले अंक में पाँच सम्पादकों के चित्र एक ही प्लेट पर छापे गये तथा पत्रिका सचित्र थी। पत्रिका दो कालमों में विभाजित थी। जिन आदर्शों और उद्देश्यों को लेकर सरस्वती प्रकाशित तथा सम्पादित हुई उसके सम्बन्ध में प्रथम अंक का सम्पादकीय जो सम्पादकमण्डल द्वारा प्रारम्भ में ही प्रस्तुत किया गया था, यहाँ अविकल दिया जा रहा है—

'परम कारुणिक सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर की अशेष अनुकम्पा से ही ऐसा

अनुपम अवसर आकर प्राप्त हुआ है कि आज हम लोग हिन्दी भाषा के रसिकजनों की सेवा में नये उत्साह से उत्साहित हो एक नवीन उपहार लेकर उपस्थित हुए हैं जिसका नाम 'सरस्वती' है। भरत मुनि के महाकाव्यानुसार कि 'सरस्वती श्रुति महती न हीयताम्,' अर्थात् सरस्वती ऐसी महती श्रुति है कि जिसका कभी नाश नहीं होता यह निश्चय प्रतीत होता है कि यदि हिन्दी के सच्चे सहायक और उससे सच्ची सहानुभूति रखने वाले सहृदय हितैषियों ने इसे समुचित आदर और अनुरागपूर्वक ग्रहण कर यथोचित आश्रय दिया तो अवश्यमेव यह दीर्घजीविनी होकर निज-कर्त्तव्य-पालन से हिन्दी की समुज्ज्वल कीर्ति को अचल और दिगन्तव्यापिनी तथा स्थायी करने में समर्थ होगी।

यद्यपि हम लोग महाकवि कालिदास के कथनानुसार वामन होकर उत्तुंग शाखास्थित महाफल के प्राप्त करने की अभिलाषा करते हुए जनसमाज में हास्यास्पद होने का उपक्रम करते हैं, किन्तु तो भी क्या हम लोगों की ऐसी चपलता कि जिसके मूल में नये उद्योग, उत्साह, उपकारिता और कार्यतत्परता की सुहावनी सुगन्ध सनी हुई है, उदार-चरित रसज्ञों और समदर्शी सहयोगियों के क्षमा करने, सराहने और उत्तेजना देने योग्य न समझी जायगी? तो फिर हिन्दी के उत्साहियों, हितैषियों उन्नायकों, रसज्ञों और सहयोगियों से ऐसी अखण्डनीय आशा क्यों न की जाय कि वे लोग सब प्रकार से अपनी बाहुलता की शीतल छाया में इस नवीन बालिका को आश्रय देने में कदापि पराङ्मुख न होंगे कि जिनके सम्मुख आज यह अपने नये रंग-ढंग, नये वेषविन्यास, नये उद्योग-उत्साह और नयी मन-मोहिनी छटा से उपस्थित हुई है।

'इसके नवजीवन धारण करने का केवल यही मुख्य उद्देश्य है कि हिन्दी-रसिकों के मनोरंजन के साथ ही साथ भाषा के सरस्वती-भण्डार की अंगपुष्टि, वृद्धि और यथायथ पूर्ति हो तथा भाषा—सुलेखकों की ललित लेखनी उत्साहित और उत्तेजित होकर विविध भावभरित ग्रन्थराजि को प्रसव करे और इस पत्रिका में कौन-कौन से विषय रहेंगे,' यह केवल इसीसे अनुमान करना चाहिये कि इसका नाम सरस्वती है। इसमें गद्य, पद्य, काव्य, नाटक, उपन्यास, चम्पू, इतिहास, जीवनचरित, पंच, हास्य, परिहास, कौतुक, पुरावृत्त, विज्ञान, शिल्प,

कला-कौशल आदि साहित्य के यावतीय विषयों का यथायकास समावेश रहेगा और आगत ग्रन्थादिकों की यथोचित समालोचना की जायगी। यह हम लोग निज मुखसे नहीं कह सकते कि भाषा में यह पत्रिका अपने ढंग की प्रथम होगी, किन्तु हां, सहृदयों की समुचित सहायता और सहयोगियों की सच्ची सहानुभूति हुई तो अवश्य हम अपने कर्तव्य-पालन में सफलमनोरथ होनेका यथाशक्य उपयोग करने में शिथिलता न करेंगे। इससे केवल यही लाभ सोचा गया है कि सुलेखकों की लेखनी स्फुरित हो जिससे हिन्दी की अंगपुष्टि और उन्नति हो। इसके व्यतिरिक्त हम लोगों का यह भी दृढ़ विचार है कि यदि इस पत्रिका-सम्बन्धीय सब प्रकार का व्यय देकर कुछ भी लाभ हुआ तो इसके लेखकों की हम लोग उचित सेवा करने में किसी प्रकार की त्रुटि न करेंगे। आशा है कि हिन्दी पठितसमाज इस पत्रिका पर कृपादृष्टि बनाये रहेंगे और हम लोगो को निज कर्तव्य-पालन में यथाशक्ति पूर्ण सहायता देंगे।'

सम्पादकमण्डल में आये नामों से सारा हिन्दी जगत परिचित है। अपने-अपने क्षेत्रों में उन्होंने ऐतिहासिक निर्माण किया है। उस अंक में साहित्यिक, आलोचनात्मक, जीवन वृत्त, सामान्य-ज्ञान, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक सभी विषयों के लेख थे। उसी भावभूमि और रूप रेखापर 'सरस्वती' निरन्तर प्रकाशित होती रही। पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने उसमें अपने सम्पादन काल में नयी चेतना ला दी पर भीतरी रूपरेखा वही रही। प्रथम अंक में महान प्रतिभाशाली विद्वानों के निबन्ध हैं, जिनमें प्राय: सभी ने उस अंक में अनेक लेख लिखे हैं। पहले अंक के लेखक क्रमानुसार इस प्रकार हैं – सर्वश्री राधाकृष्ण दास, पण्डित किशोरीलाल गोस्वामी, बा० कार्तिकप्रसाद, जगन्नाथदास बी० ए०, दुर्गाप्रसाद बी० ए०, जगन्नाथप्रसाद त्रिपाठी, केशवप्रसाद सिंह, सेठ कन्हैयालाल, लाला सीताराम बी० ए०, मनोहरलाल, पण्डित श्यामबिहारी और शुकदेव बिहारी मिश्र तथा पण्डित महावीरप्रसाद मिश्र। सभी लेखक उच्च कोटि के थे। पूरे वर्ष भर पत्रिका का संपादन समिति करती रही। सन् १६०१ से सम्पादन का सम्पूर्ण भार अकेले बाबू श्यामसुन्दरदास पर सौंप दिया गया। कवर पेज भी उसका परिवर्तित कर दिया गया।

पूरे आकारका सरस्वती का चित्र उसपर छपने लगा। बाबू साहब निरन्तर दो वर्षों तक इस पत्रिका का संपादन अत्यन्त परिश्रम एवं निष्ठापूर्वक करते रहे। सन् १६०२ के बारहवें अंक में बाबू साहब ने कार्याधिक्य के कारण अपने को सम्पादन भार से मुक्त कर लिया। इस सम्बन्ध में सरस्वती में जो सूचना उन्होंने प्रकाशित की उससे उनके व्यक्तित्व पर व्यापक प्रकाश पड़ता है। वह सूचना नीचे अविकल दी जा रही है। इस परिवर्तन का मुख्य कारण यह हुआ कि 'मैं समय के अभाव से सरस्वती के संपादन में इतना दत्तचित्त न रह सका जितना कि मुझे होना उचित था। इसलिए केवल नाम के लिए संपादक बना रहना, मैंने उचित नहीं समझा।'

जनवरी सन् १६०३ से इसका संपादन कार्य पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी पर सौंपा गया और सन् १६०५ तक सभा से इसका सम्बन्ध बना रहा। अपने सम्पादन काल के प्रथम अंक में बाबू साहब ने सरस्वती की जो सेवा की उस सम्बन्ध में द्विवेदीजीने पहले पृष्ठ पर बाबू साहब का चित्र दिया तथा उनकी सेवाओं के प्रति कृतज्ञताज्ञापन करते हुए प्रथम पृष्ठ पर निम्नलिखित टिप्पणी लिखी। 'जिन्होंने बाल्यकाल से ही अपनी मातृभाषा हिन्दी में अनुराग प्रकट किया, जिनके उत्साह और अश्रांत तप से नागरीप्रचारिणी सभा की इतनी उन्नति हुई, हिन्दी की दशा सुधारने के लिए जिनके उद्योग को देखकर सहस्रशः साधुवाद दिए बिना नहीं रहा जाता, जिन्होंने विगत दो वर्षों में इस पत्रिका के सम्पादन कार्य को बड़ी ही योग्यता से निबाहा, उन विद्वान बाबू श्यामसुन्दर दास के चित्रको, इस वर्ष आदि में प्रकाशित करके, सरस्वती अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करती है।'

सभा से इसका सम्बन्ध १६०५ तक बना रहा। बाद में इसमें विवाद-पूर्ण लेख भी प्रकाशित होने लगे। सभा इससे अपने को बचाना चाहती थी और यह आवश्यक भी थे। इस सम्बन्ध में सभा के १२ वें वार्षिक-विवरण में निम्नलिखित बातें प्रकाशित हुई। 'सरस्वती में सब प्रकार के लोगों की रुचि के अनुसार सरल भाषा में लेखों के रहने से उसका आदर दिन-दिन बढ़ता जाता है। सभा को दुःख है कि सरस्वती के प्रकाशक ने उसमें अपवादपूर्ण लेखों का रोकना उचित

न जानकर सभा से अपना सम्बन्ध तोड़ना उचित समझा। परन्तु सभा को विश्वास है कि इस पत्रिका द्वारा हिन्दी का हित साधन निरन्तर होता रहेगा।'

इसके पश्चात् इण्डियन प्रेस से द्विवेदीजी के सम्पादन में यह ऐतिहासिक पत्रिका प्रकाशित होती रही और आज भी वह ऐतिहासिक महत्व की पत्रिका पं० श्री नारायण चतुर्वेदी के सम्पादन मे वहीं से प्रकाशित हो रही है पर उसकी जननी सभा है और उसके गौरव की कहानी वहीं से आरम्भ हुई, विकसित और पल्लवित हुई।

---

[१३]

हिन्दी कवियों का बसन्त वर्णन

जीवन की विजय-यात्रा की कहानी में संसार के सारे उल्लास और सारी पीड़ा प्रकृति की छाया में पल्लवित और पुष्पित हुई तथा तबतक होती रहेगी जबतक आकाश में मधुवर्षी चांद के मुस्कुराने और कुंकुम बिखेरते हुए रश्मि-रथी का प्रभात में आने का क्रम बन्द नहीं होता। जीवकी आदि पोषिका प्रकृति के जीवन में यौवन की काकली का रव मदविभोर हो जब बज उठता है, उसके अंग-अंग पर मद की दीप्ति झलक उठती है, तो उसे देखनेवाला भी एक बार उसमें भाव विह्वल हो खो जाना चाहता है। अलग-अलग व्यक्तियों के जीवन में कब वह मादक घड़ी आती है, यह तो अज्ञात रहस्य है पर समवेत रूप से जब धरती पर धान की सुनहली बालियां वायु की लयपर गीत गाने लगती हैं, उसके स्पर्शमात्र से जब फल-सम्राट् सिहरकर बौरा उठते हैं, जिसे देख सरस सरसों के फूल आत्मविभोर हो नाचने लगते हैं, तब कोयल भी कूक उठता है। उसकी कूक पपीहा की वाणी बन जाती है और यह सब जब व्यक्ति देखता है तो वह भी फूला नहीं समाता। वह यौवन के इस महापर्व पर मद की लहरों में अपनी तरी छोड़ देता है और कभी-कभी गायक की अंगुलियां अनायास मन के सितार को छेड़कर उद्दाम यौवन के गीत गा उठती हैं, प्रकृति के स्वर में स्वर मिलाकर। यौवन जीवन के कृतित्व का परिचायक होता है और मादकता उसका श्रृंगार है। यह मदन पूजा की परम्परा मानव के मूलभूत यौवन आकांक्षा का सबसे बड़ा प्रतीक है। उल्लास का वेग इसमें इतना होता है कि मन बह ही जाता है, रोके नहीं रुकता और ऐसी परिस्थिति में सभी अपनी अपनी रागिनी पर गा उठते हैं, कवि भी गाता है। जिन्होंने ऋतु संहार का अन्तिम अध्याय पढ़ा है,

जिन्होंने संस्कृत के कवियों की आंखों से भारत के बसन्त को देखा है वे आमों की तरह बौरा उठते हैं, इस परिस्थिति में मादकता का विलास जो अभिव्यक्ति पा सकता है वह विरल ही है।

भारत की साधना-भूमि में बसंत को खेलने का उतना ही अवसर मिला है जितना कण्व के आश्रम में दुष्यन्त को मिला था। मादकता यौवन का शृंगार हो सकती है, शकुन्तला को वह झंकृत कर सकती है पर उसकी दो दशाओं की अभिव्यक्ति को वे अमर आंखें ही देख सकती हैं जो कालिदास की थीं। हिंदी कवियों में से तुलसी ने उससे अच्छी आंख पायी थी वह धर्म की थी, जीवन के अभ्युदय, निश्रेयस और सिद्धि मात्र की थी। यौवन के मद को देखने-वाली उनकी आंखें जाती रहीं अतएव सभी ऋतुओं का वर्णन तो उन्होंने किया, पर मादकता के कारण केवल अछूत की भांति वसंत का नामभर ले लिया। साधना और मादकता दोनों की दो दिशाएं हैं। साथ ही बसंत उनके जीवन में आया ही कब। जब आना भी चाहा, वे उससे दूर ही रहे, पर नाम उन्हें लेना ही पड़ा—

'भूप बाग बर देखेउ जाई।
जहँ बसंत ऋतु रही लोभाई॥'

और विनय के पद में भी—

'देखो, देखो, बन बन्यों आज उमाकंत,
मानों देखन तुमहिं आयी ऋतु बसंत।'

वसन्त के स्वागत में रीतिकाल के कवियों ने जी खोल कर गीत रचे। रीति-काल के कवि समाज में मदन की आराधना व्यापक रूप से हुई। विलासिता की बाँसुरी के स्वर में उस युग का कवि डूब कर झूमने लगा। ऋतु-वर्णन विलासिता की भावना को उद्दीप्त करने के लिए किया जाने लगा। युग के कवि वसन्त को ऋतुराज मानकर पूजने लगे। उसके आगमन को सम्राट का आगमन वे मान बैठे। ऋतु वर्णन में माहिर सेनापति ने सम्राट समझ कर बसन्त का स्वागत किया और वैसा ही रूपक भी खड़ा कर दिया।

बरन-बरन तरु फूले उपवन वन,
सोई चतुरंग संग दल लहियत है।
बन्दीजिमि बोलत बिरदबीर कोकिल हैं,
गुञ्जत मधुप गान गुन गहियत है॥
आवै आस पास पुहुपन की सुबास सोई,
सोधे के सुगन्ध माँझ सने रहियत है।
सोभा कौं समाज सेनापति सुख साज, आज
आवत बसन्त ऋतुराज कहियत है॥ १॥
मलय समीर सुभ सौरभ धरन धीर,
सरवर नीर जन मज्जन के काज के।
मधुकर पुंज पुनि मञ्जुल करत गुंज,
सुधरत कुंज सम सदन समाज के॥
व्याकुल वियोगी जोग कै सकैन जोगीजह,
विहरत भोगी सेनापति सुख साज के।
सघन तरु लसत बोलैं पिक कुल सत,
देखि हिय हुलसत आये ऋतुराज के॥ २॥

स्वागतमात्र ही उन्होंने नहीं किया अपितु मदन महोत्सव भी उन्होंने भोगी के रूप में मनाया। प्रेम के रस में आत्मविभोर रसवादी कब के चूकनेवाले, सहकार की डाल पर आमों का बौराना देख वे भी चहक उठे। देव की वाणी भला इस अवसर पर कैसे मौन रह सकती थी। कंजकली नायिका महीप देवजी के कुँवर बसन्तराज को प्रभात से ही चटकारी देकर बुलाने लगी।

'डार द्रुम पालन, बिछौना नव पल्लव के,
सुमन झगूंला सोहै तन छबि भारी दै;
पवन झुलावै, केकी कीर बतरावैं देव,
कोकिल हलावै हुलसावै करतारी दै।
पूरित पराग सों उतारा करै राई नोन,
कंजकली नायिका लतानि सिरसारी दै,

मदन महीप जूको बालक बसन्त ताहि,
प्रातहि बुलावत प्रभात चटकारी है॥

रीतिकाल के अन्तिम खेवे के महान् कवि पद्माकर की दृष्टि जहाँ-जहाँ गयी वे सर्वत्र ऋतुराज को देख कर आश्चर्य में पड़ गये। उनसे रहा न गया। वे सोचने लगे 'अवस देखिए देखन जोगू।' पर वे अपनी अपनी आँखों को रोक न पाये। आँखों की ताल पर उनका मन बोल उठा, 'देखो बसंत बगरा गया है।

कूलन में केलिन में कछारन में कुंजन में,
क्यारिन में कलित कलीन किलकंत है।
कहैं पद्माकर पराग हूँ में पौन हू में,
पातिन में पीकन पलासन पगंत है।
द्वार, दिसान में, दुनी में, देश देसन में,
देखौ दीप दीपन में दीपति दिगंत है।
बीथिन में ब्रज में नवेलिन बेलिन में,
बनन में, बागन में बगरो बसन्त है।

दीनदयाल गिरि और भारतेंदु ने भी वसन्त की सुषमा के गान गाये। पर इस युग तक वसन्त के सभी गीत चित्र उपस्थित करने वाले ही रहे। उनमें साज-सज्जा की विशिष्टता, रूप वर्णन की विशदता ऊपर का रोब दाब अधिक, अन्तरात्मा की पुकार कम है।

परम्परा की शृंखला में रूढ़ि की बेड़ियाँ कवि के स्वर पर कस गयी थीं। पहली बार रीति काल के बाद कवि ने व्यापक रूप से हृदय की आँख से प्रकृति को निहारा। वसन्त की अन्तर को भंकृत करने वाली अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न तत्कालीन भावशिल्पियों ने किया। नवोत्कर्ष की छाया के प्रमुख सन्देश वाहक 'निरालाजी' का स्वर फूट पड़ा। उन्होंने वसन्त का स्वागत करते हुए पृथ्वी के अञ्चल से लेकर जनमन के हर्ष तक का आख्यान अपने गीत में किया।

सखि, वसन्त आया
भरा हर्ष जनके मन
नवोत्कर्ष छाया।

किसलय वसना नव-वय-लतिका
मिली मधुर प्रिय उर तरु पतिका
मधुप वृन्द बन्दी—
पिक स्वर नभ सरसाया।
लता मुकुल-हार गन्ध-भार भर
बही पवन मन्द-मन्द मनहर
जागी नयनों में वन
यौवन की माया।
आवृत सरसी-उर सर सज उठे,
केशर के केश कली के छूटे,
स्वर्ण-वर्ण अंचल
पृथ्वी का लहराया

वसन्त के सौरभ की शीतल ज्वाला में स्वर्गिक सुन्दरता की आया पृथ्वी पर देख कर कवि पंत भी गा उठे—

चंचल पग दीप शिखा के धर
गृह, मग वन में आया वसन्त।
सुलगा फाल्गुन का सूनापन
सौंदर्य शिखाओं के अनन्त।
सौरभ की शीतल ज्वाला से
फैला उर उर में मधुर दाह।
आया वसन्त भर पृथ्वी पर
स्वर्गिक सुन्दरता का प्रवाह।
पल्लव पल्लव में नवल रुचिर
पत्तों में मांसल रंग खिला।
आया नीली-पीली लौ से
पुष्पों के चित्रित दीप जला।

कोमल कुसुमों की मधुर रात 'प्रसाद' जी को अनन्त सौंदर्य भरी लगी और वह भी गा उठे—

वह लाज भरी कलियाँ अनन्त,
परिमल घूँघट ढक रहा दन्त।
कंप-कंप चुप-चुप कर रही बात,
कोमल कुसुमों की मधुर रात।

महादेवी के प्रियतम को तम के पर्दे में आना भाता है। उन्होंने वसन्त रजनी का अन्तरस्पर्शी रूप खड़ा कर दिया, जिसमें स्मिति से लेकर किंकणी की झंकार तक है।

तारक मय नव वेणी बन्धन,
शीश-फूल कर शशि का नूतन।
रश्मि वलय सित घन अवगुण्ठन,
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे।
चितवन से अपनी,
पुलकित आ वसन्त रजनी।
मर्मर की सुमधुर नूपुर-ध्वनि,
अलिगुंजित पद्मों की किंकिणि।
भर पद-गति में अलस तरंगिणि,
तरल रजत की धार बहादे।
मृदु स्मिति से सजनी,
विहँसती आ वसन्त रजनी।

राष्ट्रीयता की भावनाओं से अनुप्राणित कवियों ने भी वसन्त का स्वागत अपने ढंग से किया है। श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान 'वीरों के वसन्त' की व्याख्या करते हुए कहती हैं—

भर रही कोकिला उधर तान,
मारू बाजे पर इधर गान,
है रंग और रण का विधान,

मिलने आये हैं आदि अन्त
वीरों का कैसा हो वसन्त !

राष्ट्रीय चेतना से अनुप्राणित रसवान कवि 'दिनकर' वसन्त में वैभव विलसित अतीत ढूँढने लगते हैं और गा उठते हैं—

हाँ, वसन्त की सरस घड़ी है,
जी करता मैं भी कुछ गाऊँ।
कवि हूँ आज प्रकृति पूजन में,
निज कविता के दीप जलाऊँ।
क्या गाऊँ ? सतलज रोती है,
हाय ! खिलीं बेलियां किनारे।
भूल गये ऋतु-पति बहते हैं,
यहाँ रुधिर के दिव्य पनारे।
उफ, वसन्त यह मदन बाण है !
बन-बन रूप ज्वार आया है।
सिहर रही वसुधा रह-रह कर;
यौवन में उभार आया है।
कसक रही सुन्दरी—आज
'मधु ऋतु' में मेरे कंत कहाँ ?
दूर द्वीप में प्रतिध्वनि उठती—
'प्यारी और वसन्त कहाँ' ?

वसन्त के आगमन पर प्रायः भारत के अधिकांश कवियों ने उसकी वाणी से अपनी अभिव्यक्ति का शृंगार किया है, उसे रसमय किया है। प्रकृति के इस मदभरी ऋतु का स्वागत रस संयोग से आत्मा में आनन्द के जिस हिलोर का स्पन्दन करता है वह निश्चय ही जीवन को भी रस प्रदान करेगा। इसलिए वसन्त और उनकी वाणी के प्रसारक कवि जो हमारे लिए रसदान करते हैं उनके प्रति केवल अनुग्रह मात्र प्रदर्शित किया जा सकता है, क्योंकि वे दाता जो ठहरे।

[१४]

'दिगम्बर' का शिल्प

हिन्दी में उपन्यास तो सहस्रों हैं पर मेरी दृष्टि के सम्मुख एक भी ऐसा उपन्यास नहीं आया जिसके अन्तरआवरण पर उपन्यास के नाम के साथ 'औपन्यासिक रेखांकन' शब्द भी प्रकाशित हो । इस कौतूहल ने जिज्ञासा की प्यास को बढ़ा दिया और मैंने इस पुस्तक का अध्ययन आरम्भ किया। प्राक्कथन ने इस जिज्ञासा को और अधिक बढ़ा दिया। प्राक्कथन का पहला पैरा इस प्रकार है...

'शिल्प की दृष्टि से इस पुस्तक को आप क्या कहेंगे—उपन्यास, कहानी, शब्द चित्र, पर्सनल ऐसे, सामाजिक आख्यान या केवल कथानक? फूल में पंखड़ियों की तरह यह सबकी समष्टि है 'पथचिन्ह' और 'परिव्राजक' की प्रजा के बाद कथा साहित्य में मैंने यह नवीन प्रयोग किया है। आधुनिक उपन्यास कला और पुरानी उपन्यास कला का इसमें यत्किंचित सम्मिश्रण है।'

प्रयोग की बात एक प्रकार का मानसिक दुराव आज के साहित्यचेता लोगों में उत्पन्न करती है। इसलिए नहीं कि साहित्य प्रेमी प्रयोग के विरोधी हैं। अपितु जो प्रयोग इधर हुए हैं उनमें अस्वस्थ वृत्ति का विकृत प्रलाप अधिक, साहित्य कम है। पर पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी द्वारा नये प्रयोग की बात उठाने से उस ओर सहज ही ध्यान आकृष्ट हो जाता है। द्विवेदी जी ने अपनी इस कृति के शिल्प के प्रति एक ओर तो प्रश्न किया है, वहीं स्वयं उत्तर भी दिया है, संकेतों में। इस प्रश्न और उत्तर के पश्चात् जब द्विवेदी जी की यह कृति अध्येता पढ़ता है तो उनकी मान्यताओं पर विचार करने के लिए स्वयं

रुक जाता है। प्रस्तुत कृति के दो पक्ष सामने आते हैं। शिल्प पक्ष और भाव पक्ष। यह लघु निबन्ध उसके शिल्प से संबंध रखता है।

साहित्य में रेखांकन का कार्य करना उस पहाड़ी लीक पर चलना है जिसके दोनों ओर पाताल तक पहुँचाने वाली खाइयाँ होती हैं। नन्हीं सँकरी रेखाओं द्वारा जब कलाकार को भावों की अभिव्यक्ति करनी पड़ती है तो उसका कार्य बड़ा कठिन हो जाता है। ऐसा ही कठिन कार्य 'दिगम्बर' के शिल्पी का है। उसने भावसंकेतों का सहारा लिया है वस्तु सत्य को अभिव्यक्त करने के लिए। वे संकेत जिन्हें साहित्य का सामान्य विद्यार्थी भी जानता है, 'दिगम्बर' में और भी मर्मव्यंजक हो गये हैं। पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी ने कथासाहित्य को यह जो नवीन आदान दिया है वह मौलिक महत्व का है। उन्होंने जो विशेषण प्रयुक्त किये हैं वे शब्द एक एक जीवन चित्र के गोमुख हैं। यथा, वैष्णवों, कवि, शैशव, नवोढ़ा, इत्यादि। जब शब्दों की यह सूक्ष्म व्यंजना है तब वाक्यों का क्या कहना। एक उदाहरण...

'ओह, तस्करिणी सी कौन गुफावासिनी विमल को उसकी तीर्थमाता से छीन ले जाती थी? बचपन की आँखों की वह गाढ़ी निद्रा शैशव की तरह क्या जीवन में बार-बार आती है। कौमार्य की इन्द्रियों में वह निर्दोष मदिरा की तरह रम गयी थी।'

यहाँ प्रत्येक शब्द बोलते हुए मिलेंगे। सबके बोल अलग-अलग होते हुए भी जब समवेत रूप से मुखरित होते हैं तो हृदय में एक मीड़ उठा जाते हैं। शब्द चयन की दृष्टि से पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी हिन्दी के उन कलाकारों में हैं जिनके माधुर्य का गौरव प्रतिष्ठा के कैलाश पर स्थित है। साहित्य की रसात्मक परम्परा का उन्होंने पालन ही नहीं किया है अपितु 'दिगम्बर' में नव-यौवन सम्पन्न बनाया है।

दूसरी बहुत बड़ी विशेपता इस पुस्तक की यह है कि कथा कहने की प्रायः अनेक प्रणालियों का ऐसा सुन्दर सम्मिश्रण इस पोथी में हुआ है जैसा सतरंगी आभा का समन्वय इन्द्रधनुष में हो जाता है। कथावाचकों की शैली से लेकर प्रगतिशील युग तक की कहानी शिल्प का इसमें समुच्चय है। इसके अतिरिक्त

निबन्धों की नयी शैली का भी पुट है, जैसे रिपोर्ताज, परसनल ऐसे, मनोवैज्ञानिक चित्रण, इत्यादि।

पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी उन शिल्पियों में हैं जो अपनी अनुभूतियों से ग्रामीण भारतीय संस्कृति की ज्योति जगाए हैं। यद्यपि वे हिन्दी के सर्वहारा साहित्यकार हैं तथापि भारतीय ग्रामों के रसाल कुंज की तरह उन्होंने मधुर हृदय पाया है। उसमें आमों के बौराने से लेकर रसाल के टप टप टपकने तक की नैसर्गिक छटा है। यही छटा 'दिगम्बर' का शिल्प है।

[१५]

श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड़, 'बेढब' बनारसी

श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड़, 'बेढब' बनारसी हिन्दी की उन भारती के विभूतियों में हैं जिन्होंने अपनी अनुपम साहित्यिक कृतियों से सदैव ही भारती के मन्दिर में प्रकाश के दीप जलाये हैं। आज हिन्दी जगत में वे अपने ढंग के अकेले लेखक हैं। उनकी रचनाओं को पढ़-पढ़ कर लोग आनन्द और हँसी में झूम उठते हैं।

आपका जन्म प्रबोधिनी एकादशी सं० १९५२ को काशी में हुआ था। सातवीं कक्षा में ही आपको पितृ-वियोग सहन करना पड़ा। आपके पिता बा० जगदेव प्रसाद गौड़ अंग्रेजी तथा उर्दू के पत्रों में लिखा करते थे। उनकी मृत्यु के पश्चात् भी आपने निरन्तर अध्ययन का क्रम जारी रखा और प्रयाग से अंग्रेजी, आगरा से राजनीति में एम० ए० तथा काशी विश्वविद्यालय से एल० टी० और सम्मेलन से 'विशारद' परीक्षा पास की। आपने अपना सारा जीवन शिक्षा के पुनीत क्षेत्र में व्यतीत किया है और इस समय दयानन्द इण्टर कालेज वाराणसी के आचार्य हैं।

उनका एक अपना निजी व्यक्तित्व है। उसमें हिमालय सा अभिमान है जो झुकना नहीं जानता किन्तु उनका हृदय गंगा की तरह निर्मल तरल तथा पावन है। प्रत्येक विषय पर उनकी कुछ मान्यताएँ हैं, जिन्हें वे किसी पर लादना नहीं चाहते, किन्तु स्वयं उससे हटना भी नहीं जानते। हिन्दी के प्रश्न पर उन्होंने कभी किसी भी विरोधी से समझौता नहीं किया अपितु निरन्तर संघर्षशील ही रहे। हिन्दी विरोधी नीति के कारण जब रेडियो का विरोध चल रहा था, दूसरे ही दिन उनकी इलाहाबाद स्टेशन से वार्ता प्रसारित होने वाली थी। पता

लगते ही उन्होंने रेडियो विरोध के लिए वक्तव्य दिया। यदि वे चाहते तो रेडियों पर वार्ता कर आते और कह देते मुझे मालूम न था।

शासक की दृष्टि से वे अनुशासन का पालन दृढ़ता पूर्वक करते हैं और अनुशासन की रक्षार्थ यदि वे किसी पर क्रोध करते हैं तो कभी भी उसके व्यक्तिगत अहित की बात सोचते तक नहीं। एक बहुत बड़ी विशेषता उनकी यह भी है कि वाद-विवाद को बुरा नहीं मानते।

उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन का आरम्भ अपनी ९ वीं कक्षा से ही कर दिया था। उस समय आपका एक लेख 'लीडर' में प्रकाशित हुआ था और तब से निरन्तर हिन्दी के सभी अच्छे पत्रों में आप लिख रहे हैं। हिन्दी में आपका पहला लेख डा० काशी प्रसाद जायसवाल द्वारा सम्पादित पत्र 'पाटली पुत्र' में सन् १९१८ में प्रकाशित हुआ था।

आपके साहित्यिक जीवन को निम्नलिखित भागों में विभाजित कर उसका अध्ययन करने से प्रकट हो जायेगा की आपकी देन हिन्दी को कितनी है। कृष्णदेव प्रसाद गौड़ और 'बेढब' बनारसी आप के दो रूप हैं जिसके द्वारा आपने हिन्दी को पल्लवित करने का सफल प्रयत्न किया।

कृष्णदेव प्रसाद गौड़

गौड़ जी के रूप में हिन्दी के सम्मुख वे आलोचक, चिंतक, गंभीर लेखक तथा सम्पादक के रूप में आये।

साहित्यकार गौड़ जी का सम्बन्ध प्रायः हिन्दी के प्रत्येक मान्य साहित्यकार से था, रहा है और है। प्रायः उनके विशाल अध्ययन का लोहा सभी मानते हैं और समय-समय पर उनसे सलाह लिया करते हैं। प्रेमचन्द्र पर अवध उपाध्याय ने जब 'वैनिटी फेयर' के छायानुवाद का दोष लगाया था तो वे सबसे पहले गौड़ जी के पास ही आये थे। कामायनी निकलने पर सबसे पहले गौड़ जी ने ही 'आज' में उस पर समीक्षा लिखी। आलोचक के रूप में छायावाद को हिन्दी में स्थान दिलाने वालों में उनका नाम पहले लिया जायगा इसे 'दिनकर' जैसे कवि

भी स्वीकार करते हैं। आज से बीसों वर्ष पूर्व ही उनकी पुस्तक खड़ी बोली कविता की प्रगति प्रकाशित हुई थी।

आपके बहुत से गम्भीर वैज्ञानिक लेख 'विज्ञान' नामक मासिक पत्रिका में प्रकाशित हुए। इसके अतिरिक्त अनेक गवेषणात्मक साहित्यिक लेख भी आपने लिखे हैं।

आलोचना के क्षेत्र में गौड़ जी का आगमन उस समय हुआ जब शुक्ल जी हिन्दी आलोचना को नया मोड़ दे रहे थे, हिन्दी के आदि आलोचकों को उन्होंने तपते देखा था, और शुक्ल जी के पश्चात भी आलोचना की गतिविधि से उनका सम्बन्ध निरन्तर बना है। साथ ही पश्चिमी साहित्य से इतना अधिक वे परिचित हैं कि उसकी अद्यतन गतिविधि से वे परिचित हैं। इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो उनका विशाल अनुभव इस क्षेत्र में उनके साहित्य में दीखेगा।

उनकी समीक्षा की कृति "साहित्य-प्रवाह" (सन् १९५६) में हिंदी आलोचना के हर एक युग का ढंग उसमें मौलिक रूप से आभावान है। उसमें संकलित अनेक निबंधों का ऐतिहासिक महत्त्व है।

वे उस कोटि के आलोचक हैं जो कृतिकार की अपेक्षा कृति पर विशेष ध्यान रखते हैं। समीक्षा के क्षेत्र में वे 'रस' के कायल दीखते हैं पर घोर शास्त्रीय दुराग्रह उनमें नहीं मिलता अपितु वे नवीन भावनाओं का आदर और सम्मान भी अपने सिद्धान्त पर अटल रहकर सहानुभूति पूर्वक करते हैं। वे समीक्ष्य वस्तु के सहज सुन्दर सत्य का सीधे साधे ढंग से उद्घाटन करते हैं। जहाँ उनको किसी बात का विरोध करना होता है या जहाँ उनकी रुचि एवं संस्कार से रस सामंजस्य नहीं होता वहाँ उनके व्यंगकार का सर्जनात्मक रूप खड़ा दीखता है। आलोचना में व्यंग-विनोद का यह घोल उनका निजी है। इस निजत्व में चिन्तन और विशाल अध्ययन पर आधृत विश्लेषण का सहज रूप दीखता है। वे शास्त्रीय आलोचकों की कोटि में ही आयेंगे पर उनका शास्त्र रूढ़ नहीं अपितु समय के साथ मढ़े हुए मान्य ज्ञान का आगार है।

इसीलिए प्रबुद्ध विद्वानों में उनके आलोचना साहित्य का समादार है। उनकी आलोचना शैली का एक सहज उदाहरण यहाँ देना अप्रासंगिक न होगाः—

"हिंन्दी साहित्य का वशंगत सम्बन्ध संस्कृत से है इसलिये अभी तक अपने देश में वही मान्यताएँ सहृदयों को स्वीकार रही हैं जो संस्कृत के आचार्यों ने निर्धारित की थीं। इनके अनुसार साहित्य वही है जिसमें लोकहित की भावना हो, मानवता का कल्याण हो, जो समन्वय की भावना उत्पन्न करे। सौहार्द, सौमनस्य और शोभन जिसके पठन-पाठन का परिणाम हो। स्वस्थमन, स्वस्थ चित्त के लिये आनन्द आवश्यक वस्तु समझी गई और साहित्य का ध्येय आनन्द में माना गया। संस्कृत के साहित्यकारों ने काव्य शब्द को बहुत व्यापक रूप में माना। इसका अर्थ केवल पद्यबद्ध कविता ही नहीं, यह साहित्य का पर्याय समझा गया और इसलिये साहित्य वही माना गया जिससे रसानुभूति हो, जो रमणीय हो और मम्मट ने सबका समन्वय करते हुए काव्य अर्थात् साहित्य का लक्षण बताया—

काव्यं यशसेऽर्थ कृते व्यवहारविदेशिवेतर क्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

लैटिन में एक शब्द है 'लिटरेच्युरा' जिससे फ्रेंच में 'लिटरा' बना जिसका अर्थ है अक्षर, उसीसे अंग्रेजी शब्द लिटरेचर बना है। इस अक्षर से स्मरण रखिये, ब्रह्म से नहीं तात्पर्य है; उन काले-काले चित्रों से तात्पर्य है जो हमारे स्वर अथवा व्यंजन के प्रतीक हैं। आरम्भ से ही दोनों का अन्तर आप समझें। एक का आरंभ ऐसे शब्द से होता है जिसमें हित की भावना सन्निहित है और दूसरे का अक्षरों से, जिनसे शब्द बनते हैं। हमारे पास इतना स्थान नहीं है कि हम आपको दिग्दर्शन भी करा सकें कि पश्चिम का साहित्य आरम्भ में जब यूनान में विकसित हुआ कितना क्रूर, पाशव तथा अमानुषिक था। हमारे यहाँ का साहित्य इन शब्दों से आरम्भ हुआ—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः
यत् क्रौञ्च-मिथुनादेकमवधीः काम मोहितम्

किन्तु यह कहना भूल होगी कि योरोप के साहित्य में यूनानी नाटकों की हत्याओं और देवताओं की लड़ाइयों का ही अनुकरण हुआ। मानवता के विकास के साथ इटली, जर्मनी, फ्रांस तथा इंगलैंड ने बहुत सुन्दर मानव हितकारी और आनन्द दायक साहित्य संसार के सम्मुख रक्खा।

[साहित्य प्रवाह से]

इसके अतिरिक्त आपने सफल सम्पादन का कार्य प्रारम्भ से ही किया है। नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भारत जीवन, संसार, आँधी जैसे गम्भीर पत्रों का आपने बड़ा सफल सम्पादन किया और वे आपके समय में हिन्दी के लोकप्रिय उत्कृष्ट पत्रों की पहली पंक्ति में सम्मान पाने में सफल हुईं।

आपने अनेक पुस्तकों का सम्पादन भी किया है जिनकी संख्या लगभग २५ के है। आपके संयुक्त सम्पादन में श्री सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हुआ जो सभी दृष्टियों से विचारपूर्ण गंभीर एवं अति श्रेष्ठ है।

'बेढब' बनारसी

'बेढब बनारसी' के रूप में वे हिन्दी के शिष्ट हास्य रस के कवि तथा अप्रतिम व्यंगकार हैं। उनकी रचनाओं में उच्च कोटि के हास्य एवं वैदग्ध का सम्मिश्रण रहता है।

छोटे-छोटे व्यंगात्मक नोट लिखने में हिन्दी जगत में वे अपना सानी नहीं रखते। उनके बहुत से नोट हिन्दी की अक्षय निधि हैं, जो पत्रों के पृष्ठों में पड़े हुए हैं। बेनीमाधव, बुलडॉग, पिण्डारी पांडे, अगड़धत्त शर्मा के नाम से वे अपने नोट लिखते हैं और प्रायः वे अनेक पत्रों में उद्धृत किये जाते हैं।

हिन्दी में हास्य की परम्परा अधिक पुरानी नहीं है फिर भी आरम्भ से ही शिष्ट हास्य लेखकों में उनका अपना स्थान है। कहानियाँ, निबंध, प्रहसन स्केच और व्यंग्य लिखने में बेढब जी अकेले हैं। उनके व्यंग्य के तीखेपन से सभी लोग परिचित हैं। उनके व्यंग्य की उक्तियाँ चुभती हुई, उपमाएँ बिल्कुल नवीन,

उपयुक्त और बेजोड़ होती हैं। यों तो पूरा स्केच व्यंग्य होता ही है, उपमाएँ उनके तीखेपन तथा सौन्दर्य में चार चाँद लगा देती हैं। साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक असंगतियाँ और विडम्बनाएँ इनके व्यंग्य की लक्ष्य रही हैं।

हास्य लिखना तलवार की धार पर चलना है, व्यक्ति जरा सा चूका कि उसे ऐसा विकृत कर देता है कि वह अश्लीलता में परिवर्तित हो जाता है किन्तु बेढबजी इस तीखी धार पर चलने के सधे अभ्यासी हैं; और कभी चूके नहीं हैं।

व्यंगकार के रूप में साहित्य के सभी अंगो को उन्होंने सींच कर हरा भरा किया है। यद्यपि उन्होंने हास्यरस में भी विषय प्रधान और विषयी प्रधान दोनों प्रकार के लेख लिखे हैं तो भी आत्मव्यंजक निबन्धों में उनकी सफलता गौरव शालिनी है। आत्म व्यंजक निबन्धो के बारे में उन्होंने स्वयं लिखा है। वास्तव में आत्म व्यंजक निबन्धों की यही मान्य कसौटी है उसे देखना अप्रासंगिक न होगा।

"आत्मव्यंजक निबन्ध में लेखक अपनी अनुभूति अथवा कल्पना द्वारा जीवन की आलोचना करता है। किन्तु वह जीवन की आलोचना किसी विशेष सिद्धान्त के अनुसार, किसी बने नियम के सहारे अथवा किसी विशिष्ट शैली द्वारा नहीं होती। जहाँ ऐसा हुआ, आत्म-व्यंजक निबंध अपनी मर्यादा छोड़ देता है। यह आलोचना सूक्ष्म और गहरी होती है। किन्तु उसका वाहन हलका होता है। स्थूल भाषा में लेखक किसी छोटी अनुभूति के सहारे आपको सुदूर दार्शनिक क्षेत्र में बहला ले जाता है। आप विचारों से उलझना चाहें, उलझिये, नहीं तो लेखक की भाषा और कला पर मुग्ध होइये और पढ़ कर फेंक दीजिये।

विनोद आत्मव्यञ्जक निबंध का सहचर है। अंग्रेजी लेखकों की विशिष्टता है विनोद। हिन्दी लेखकों में इसका अभाव है। इसलिए वह आत्म-व्यञ्जक निबन्धों की रचना में सफल नहीं हो पाते। या तो वह विलाप करने लगते हैं हैं जिसे सुनने में चाहे आनन्द आता भी हो; पढ़ने में नहीं आता और या तो शुष्क मरुस्थल में पाठकों में ले जाते हैं; जहाँ उनकी प्यास नहीं बुझती।

संसार में पग-पग पर अनेक प्रकार की घटनाएँ होती रहती हैं। सहृदय व्यक्ति के ऊपर ऐसी घटनाओं की प्रतिक्रिया होती है, उसे वह लिपि में बाँधता है। किन्तु बहुत जकड़ कर नहीं, हल्के फुल्के। विनोद का पुट भी उनमें दे देता है। इतना ही कि आप पढ़ कर मुस्करा दें। ठठा कर हँसने की वस्तु वह नहीं है। इन निबंधों का अभिप्राय किसी प्रकार का उपदेश देना नहीं है। यदि इनके द्वारा कुछ उपदेश मिल सकता है तो वह काव्य की भाँति 'कांता सम्मि' उपदेश ही।

आत्म-व्यञ्जक निबंधों की एक विशेषता उनकी उच्छृङ्खलता है। उच्छृंखलता से मेरा अभिप्राय है कि किसी शृंखला का न होना। गाय का वर्णन करते आप हिमालय पर जा सकते हैं और रिक्शे के पहिये टूटने से मार्क्स की दाढ़ी तक आप पहुँच सकते हैं। लेखक के ज्ञान से, अनुभव तथा कल्पना के अनुसार यह उच्छृङ्खलता व्यापक होती है। किसी एक बात के ऊपर ही कुछ लिख दिया जाय तो वह पाठशाला के विद्यार्थियों का लेख हो जायगा।

ऊपर सीमा के सम्बन्ध में संकेत किया गया है। आत्म-व्यञ्जक निबंध दो-तीन पृष्ठों से अधिक नहीं होते। यद्यपि कुछ लेखक मुख्यतः 'लैम्ब' इसके अपवाद हैं। कुछ ने तो डेढ़-दो पृष्ठों में ही एक चित्र उपस्थित किया है। इन लेखों का सौन्दर्य इनकी लघिमा में ही है। कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक विचार भरे जायँ—यही इसकी कला है। किन्तु अपने में वह पूर्ण होते हैं। पाठक पर पढ़ने का बोझ नहीं पड़ना चाहिए।"

यद्यपि विभिन्न समय और अवसरों में विभिन्न 'मूडों' में उन्होंने पचासों आत्म-व्यञ्जक निबन्धक लिखे हैं, तो भी उनके आत्म-व्यञ्जक निबन्धों की कीर्ति का कारण 'उपहार' नामक उनकी पुस्तक है। इसमें छब्बीस निबन्ध हैं। ये निबन्ध निम्नलिखित विषयों पर हैं:—

१—उपहार २—दीपक ३—दाढ़ी और प्रेम ४—एक पेग ५—अध्यापक ६—प्रभुजी तुम चन्दन हम पानी ७—आज का ताजा अखबार ८—२४ अक्टूबर ६—झूठ कि सच १०—लाल पेंसिल ११—बैलगाड़ी १२—प्रतीक्षा

१३— छुट्टी का दिन १४—नाच १५—रेडियो १६—शरद् ऋतु १७—कौआ १८—पत्रों का उत्तर १९—तोंद का महत्व २०—सबसे उपयोगी साहित्य २१—दीमक २२—कुछ नयी बाजियाँ २३—बरसात २४—ऐनक २५—विलायती २६—काली बिल्ली।

इन निबन्धों में उपहार से लेकर काली बिल्ली तक, प्रेम से लेकर ऐनक तक, कौआ से लेकर दीमक तक, दाढ़ी से लेकर तोंद तक, प्रभुजी से लेकर बरसात तक, बैलगाड़ी से लेकर नाच तक का अनुभव व्यंग विनोदमयी शैली में लेखक ने प्रकट किया है। इन लेखों में समाज, संस्कृति, साहित्य के विविध वर्ग जिनसे लेखक का नाता-रिश्ता रहा है मूर्तरूप में खड़े दीख पड़ेंगे। यद्यपि लेखक ने अपनी आँख से देखा है तो भी इनमें साधारणीकरण का अद्भुत गुण-धर्म है। इस गुण धर्म में रसरंग की अपूर्व छटा है उदाहरण के रूप में कुछ पंक्तियाँ दे रहा हूँ:—

'कौए के प्रति हमें कुछ दुराग्रह है। हंस को हमने दमयन्ती और नल के प्रेम का सन्देश वाहक बनाया, भ्रमर को इस कार्य के लिए उपयुक्त समझा, निर्जीव मेघराशी को कालिदास ने जीवन दान दिया किन्तु काग बेचारा यहीं रह गया। प्रेम का सन्देश ले जाने के लिए यह पक्षी कितना उपयुक्त है। प्रातः काल जब प्रेमिका अलसाये नेत्रों से अपना प्रतिबिम्ब उषा में निहारने लगे उसी समय सुदुर से—अमरिका हो, आस्ट्रेलिया हो, न्यूजीलैण्ड हो, कौआ प्रेम का सन्देश लाकर सुना दे तो कितना भला जान पड़ेगा। इन देशों का कौआ भी काला ही होता है, उजला नहीं। कुछ लोगों का कहना है कि कौआ जूठा खाता है और पता नहीं क्या क्या भक्षण करता है। इसलिए उसका बायकाट किया गया है। यह घोर अन्याय है। इसलिये हरिजन को इस प्रकार त्याग देना पक्षी समाज के प्रति निर्दयता है। अब हंस और चकोर, मयूर और चातक का युग गया। काग का युग है। इसके प्रति प्रेम और दया ही नहीं भाई चारे का व्यवहार अपेक्षित है।"

यह तो एक सामान्य उदाहरण है। इनके निबन्ध गम्भीर, शालीन व्यंग-विनोद के लिये अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखते हैं।

कहानीकार के रूप में बेढबजी हास्यरस के युग विधायक कहानीकार माने जाते हैं उनके अनेक कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। यथा; बनारसी एक्का मसूरीवाली, टनाटन, गान्धी जी का भूत, धन्यवाद। आदि पत्र पत्रिकाओं में भी इनकी पचासों कहानियाँ पड़ी हैं। यद्यपि इस क्षेत्र में यह बहुत बाद में आये तो भी निर्विवाद रूप से सर्वमान्य सत्य है कि कहानी कार के रूप में इनकी प्रतिभा अकेली है। वे ताव पर लिखते हैं बनाव से भागते हैं उनका जीवन वाद से परे, विवाद से दूर इसलिए है कि वे अलमस्त बनारसी जीव हैं।

बनारस के व्यक्तित्व का बाँकापन इनकी कहानियों का प्राण है। अपनी कहानियों को ये बनारसवादी कहानियाँ कहते हैं। बनारसवाद से उनका आशय है कि साहित्यका का वह वाद जो चिरन्तन काल से चला आ रहा है जो सबसे अलग होते हुए भी सबसे मिला हुआ है और हर रचना प्रकिया में एकरस है इनकी कहानियाँ व्यंग विनोद की अग्रसर की सुहागमयी बरसात है।

बेढबजी की जन प्रियता का आधार उनकी कवितायें हैं। कवि वही हो सकता है जो जीवन भर जवान रहे बेढबजी बासठ वर्ष की उम्र में फर्माते हैं:—

विजय हुई न क्यों उनके मुख सलोने पर
तरस न आयी क्यों उनको मेरे रोने पर।
इसी को कहते हैं होता है दुख में सुख बेढब
लिपट के रोने लगीं मुझसे फेल होने पर॥

मस्ती का यह आलम, अल्हड़ जवानी की भाँति, चैत में बौराये आमों की सुरभि की भाँति हिन्दी जगत में विगत चालीस वर्षों से वे बिखेर रहे हैं। उन्होंने प्राचीन से प्राचीन परिपाटी से लेकर नवीन से नवीन सफल प्रयोग किये हैं। उन्होंने देश काल, समाज, प्रथा, आजादी, नवनिर्माण जीवन को मस्ती आदि सभी को अपने काव्य का विषय बनाया है। दोहा से लेकर बहरों तक को अपनाया है। कवित्त सवैया से लेकर रुबाइयों तक को नया रंग दिया है।

उनकी रचना के प्रभाव से प्रभावित होकर अनेक तरुण हास्यरस के कवि हो गए, वे इस क्षेत्र में मास्टर साहब हैं। ऐसे मास्टर के जिनके कार्य विस्तार और रस विस्तार केबाहर अनुगामी नया क्षेत्र न निकाल पाये। वे हिन्दी हास्य-व्यंग की कविता के गंगोत्री हैं। इसीलिए एक स्वर से लोग उन्हें हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ व्यंगकार घोषित करते हैं। कोई उन्हें हिन्दी का हुमायूँ बतलाता है, कोई 'अकबर' उनके सम्बन्ध में पं० रामनरेश त्रिपाठी जैसे महान कवि की राय है:—

श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड़, जो बेढब बनारसी के नाम से विशेष प्रसिद्ध हैं, हास्यरस के सिद्धहस्त कवि हैं। मैंने उनकी दो पुस्तकों बेढब की बहक और बिजली को पढ़कर देखा, वर्तमान समाज को देखने की उनमें अद्भुत निरीक्षण शक्ति है। उन्होंने बिलकुल नई उपमायें दी हैं फारसी और अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग ऐसे प्रसगों पर किया कि पाठकों और श्रोताओं को आसपास की एक नई दुनियाँ में पहुँचा देते हैं। जहाँ उनकी वक्रोक्तियाँ दमदम गोलियों की तरह भीतर जाकर फटती हैं हास्यरस की आतसबाजी सी छूटने लगती है। दोनों पुस्तकों में बेढब जी की रचनाओं के अलग-अलग संग्रह हैं। प्रत्येक रचना अपने में पूर्ण हैं। दो चार घनाक्षरी और सवैया छन्दों को छोड़कर बाकी वही बहरें प्रयोग में लायी गयी हैं जो उर्दू में प्रचलित हैं। इससे उर्दू का भी मजा हिन्दी में आ गया है। कुछ रूबाइयाँ भी हैं, जिनका मैं स्वागत करता हूँ। हिन्दी में रूबाइयों की बड़ी जरूरत है। हिन्दी में कवि तो बहुत हैं पर विरह-वेदनाओं के कारण हास्यरस की ओर उनका झुकाव शायद नहीं के बराबर ही है। बेढब जी एक बड़ी कमी की पूर्ति कर रहे हैं। इसके लिये वे हिन्दी साहित्य के प्रेमियों की ओर से बधाई के पात्र हैं।

उर्दू में स्व० अकबर इलाहाबादी ने महावरेदार चुस्त भाषा में अपने समय के अंग्रेजी शासन और शिक्षितों पर उसके गहरे प्रभाव को लेकर जैसी चुभती हुई चुटकियाँ ली हैं वैसी न किसी उर्दू के शायर को सूझी और न हिन्दी के विरह व्याकुल कवियों ही को। हर्ष की बात है कि बेढब जी ने अकबर का मार्ग सूना नहीं जाने दिया। और कहीं-कहीं तो व्यंग्य कसने में वे अकबर से भी

आगे बढ़ गये हैं। उनकी भाषा भी मुहावरेदार चुस्त और दुरुस्त है। भाषा पर उनका प्रशंसनीय अधिकार है। पुस्तकें संग्रहणीय हैं।

रामनरेश त्रिपाठी
५—३—५७"

उनकी यह राय केवल त्रिपाठी जी की नहीं समस्त हिन्दी जगत की है। उनकी रचनाओं का उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है। जो स्वयं इस सत्य का प्राख्यान करती हैं:—

गंजी खोपड़ी

खोपड़ी गंजी मनोहर चीज है
है लोहारों की निहाई की तरह
है नहीं रेखा न उसमें क्रीज है
सेफ में जिनके बहुत कुछ होर्ड है यह उन्हीं का साफ साइन बोर्ड है ॥ १ ॥
जो गली में ज्ञान के हैं मुड़ गये
घोटते हैं पुस्तकों को जो सदा
बाल उनकी खोपड़ी से उड़ गये
लोग कहते हैं बहुत विद्वान हैं खोपड़ीपर बाल का न निशान है ॥ २ ॥
एक टापू है बिना यह पेड़ का
रङ्ग है इस ढंग का कुछ हो गया
बाल मानो मुड़ गया है भेड़ का
अमित आभा चिकनई बादाम है वारनिशमय टीक-टेबुल-टाप है ॥ ३ ॥
हाथ अपने आप जाता है उधर
खींचता जिस भाँति चुम्बक जोर से
आगया लोहा निकट उसके अगर
बैठ जाता हाथ तब तत्काल है जिस तरह सम पर मृ्दङ्ग का ताल है ॥ ४ ॥
इस तरह यह चमकती खोपड़ी
देख सकते आप अपना रूप हैं
चाँद पर चाँदनी मानों पड़ी
आइना इसको लगे हैं मानने है बनाया हाथ से भगवान ने ॥ ५ ॥

बाल इनका कौन बाँका कर सके
धर-पकड़ में भी न आ सकते कभी
और चुंदी कौन बेड़ेब धर सके
यह बड़प्पन की निशानी है यहाँ
विश्व के सब पंडितों में है महा ॥ ६ ॥

× × ×

आधुनिक कृष्ण से

१

मुरली को राधिका के कर में सपुर्द कर,
हाथ में हवाना का सिगार एक लीजिये।
दूध दही माखन को करके सलाम आप,
प्रातःकाल चाय रात काकटेल पीजिये।
मुरली और राधिकाकोशीघ्र ही डिबोर्स कर,
सिनेमा स्टार संग ले के रास कीजिये।
माथप्लेन लेके नाथ उड़िये उसी पर,
है गरुड़ पुराना उसे गोली मार दीजिये।

२

रास रङ्ग गोपी सङ्ग भूल जाते सारा तुम,
होती बेकारी और होता यदि ठाला तुम्हें।
छूट जाती चोरी सब दही-छाछ-माखन की,
यू०पी०की पुलिस सेपड़ता जो पाला तुम्हें।
देखते उठाना गोवरधन तुम्हारा हम,
मिलता जो खाने को घी भी घासवाला तुम्हें।
गोकुल को छोड़ आज मथुरा को जाते यदि,
तुरत तलाक दे देती ब्रजबाला तुम्हें।

× × ×

मेढक तू कितना महान है

उस कवि ने तुझको बतलाया वेद पाठियों ऐसा
जिसने महिमा रामनाम की हम सबको बतलाई
जिसने लक्ष्मण के हाथों अबला की नाक कटाई
कैसा तेरा मधुर गान है।

मघवा की बरछीसे बादल पर प्रहार जब होता
सिसक सिसक कर नभमण्डलमें घन शावक जब रोता
नेताओं सा सदा उन्हें तू धीरज देता रहता
तू पंडित हैं, ज्ञानवान है।

तेरा है संगीत प्रेम का उर व्याकुल कर देता
तेरा स्वर कवियों के कलमों में स्याही भर देता
देख उछलते तुम्हें उछलने लगते प्रेमी जन भी
तू तो सचमुच शक्तिवान है।

जिसने लिखा न तुझपर कविता वह भी कोई कवि है
बिना अर्थका भारवि है वह बिना ताप का रवि है
महाकाव्य क्या और गीत क्या मेढक पर न लिखा जब
मंगल तेरा ही बखान है।

पानी में बैठा रहता निसिवासर घोर तपस्वी
दिग दिगन्त में गूँजा करती वाणी महायशस्वी
तू सन्देश जागरण का देता रहता है सबको
जीवन का तू ही प्रमाण है

जलचर जनता का तू कवि है, नमस्कार है तुझको
जन कवि की जानव से ले यह पुरस्कार है तुझको
सुनें या नहीं निज तू सबको सदा सुनाता
मेढक तेरी तरुण तान है।

रिमझिम रिमझिम बरस रहा हो पानी नीलगगन से
किसी सुधाकर की स्मृति हो बैठा युवक लगन से
तेरी बोली मीठी टीसों को उर में ला देती
लाता उर में तू उफान है।

× × ×

आँख नश्तर है तुम्हारी, होठ 'आइंटमिंट' है,
'ब्लैक' तिल पिल है, पसीना 'प्योर' पीपरमिंट है।
डाक्टरके डाक्टर हो, साथ मेडिकल हाल है,
यह तो बोलो कुछ तुम्हारी फीसकी भी 'हिंट' है।

हम ब्लैक हैं बलासे तुम 'ह्वाइट' ही सही,
आओगे मेरे घरमें तो कुछ 'लाइट' ही सही।
कुछ छेड़ छाड़ चलती रहे आपसे मुझसे,
बोलो अगर 'लव' न सही 'फाइट' ही सही।

लोग कहते हैं तुम तमाशा हो,
प्रेमियोंके हृदयकी आशा हो।
मीठी छोटी सफेद चिकने से,
मैं तो कहता हूँ तुम बतासा हो।

श्रीमतीजी गल्प लिखने लग गयीं,
खोजमें 'कैरेक्टरों'-के पग गयीं।
कल जो लौटे घूम कर श्रीमानजी,
घरमें देखा श्रीमतीजी भग गयीं।

मेरे हाथों कुछ नहीं तो पानही खाया करो,
मुँह लगो इतना न सबसे कुछ तो शरमाया करो।
थोड़ी जो छुट्टी मिले 'संडे'-को आ जाना जरा,
कौन कहता है कि घरपर रोज तुम आया करो।

दिल मेरा टूट गया प्रेमके झकझोरोंसे,
गैर मुमकिन है बचाना उसे अब चोरों से।
उनसे कहिये तो दिखाते हैं वह आँखें मुझको,
चैन दुनियाँमें मिलेगा न कभी गोरोंसे।

× × ×

ऊँटोंका राष्ट्र गान

चीनो अरब सहारा हिंदोस्तां हमारा,
हम ऊंट हैं वतन है सारा जहां हमारा।
लाकर वह रेलो-मोटर हमको मिटा रहे हैं,
बालूमें बस है बाकी नामों निशां हमारा।
हिम्मत कहाँ किसी की आ जाये सामने जो,
चलता है बलबलाता जब कारवां हमारा।
हमको खजूर भाता, आशिक बबूलके हम,
तुम आम लेके चाटो क्या है जयां हमारा।
गुलशनमें क्या धरा? सूखा है क्या चमनमें,
मैदां सपाट बालूका गुलसितां हमारा।
अंग्रेजके भी 'लायल' हम बारसे रहे हैं,
लन्दनसे आके कोई ले ले बयां हमारा।
फजलुलहक और जिन्ना वह दिन है याद तुमको,
तुम लोग हांकते थे जब कारवां हमारा।
अफसोस कुछ न करता कोई मदद हमारी,
मालूम क्या नहीं है दरदे निहां हमारा।
बालूसे हम हैं पैदा बालूमें जायेंगे हम,
समझो वहीं हमें भी दिल हो जहां हमारा।

× × ×

विश्वके लिये

रूपके बाजारमें यों प्रेम परखा जा रहा है,
लूट कोई और कोई पासबुक दिखला रहा है।

शीशियोंमें सेन्टके हैं स्नेहको कुछ लोग भरते ,
साड़ियोंका ढेर कोई बीन-बीन लगा रहा है ।

हो रहा है चाहका सौदा कहींपर 'रेसतराँ' में ,
मूल्य कोई फिल्मके बाजारमें भुगता रहा है ।

मोल लेनेको हृदय साहित्य भी है सहारा ,
रेतकर अपने गलेको गीत कोई गा रहा है ।

यहजलनदिलमें कहाँजोदूसरों का दिल जलादे ,
बलबका है मंच,अभिनय नव-शलभदिखलारहा है ।

और कवि सम्मेलनोंमें भी हृदयका हाट लगता,
दिल चुरानेंके लिये कवि सैकड़ों बल खारहाहै ।

प्रेमकी हो राह चिकनी इसलिये मुँह साफकरते,
मूँछ दाढ़ीको सबेरे शाम मूँड़ा जा रहा है ।

नित्य होती हैं समर्पण पुस्तकोंपर पुस्तकें भी ,
पारितोषिकसे किसीको आदमी बहका रहा है ।

वे लिये वेतन पढ़ानेको युनक तैयार बैठा ,
विश्वके सारे विषय'बेढब'उन्हें सिखला रहा है।

× × ×

बोलो बेढब छोड़ दें, कैसे काशी धाम,
मरने पर गंगा मिलैं, जीते लंगड़ा आम।

× × ×

इनकी भाषा सरल तथा गतिमय होती है जो अपने राग में हास्य की रागिनी बजाने में पूर्ण समर्थ है।

आप सीमा और काल से परे के साहित्य को वास्तविक साहित्य मानते हैं और इनकी अनेक रचनाएँ निश्चय ही काल की सीमा को दूर छोड़ कर अपने ढंग की अमर रचनाएँ हैं। फिर भी देश काल की सामयिक समस्याओं से दूर हट कर कोरे रसवाद में संभवतः इनका विश्वास नहीं है। विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि 'लफटंट पिगसन की डायरी' के ढंग की पुस्तक हिन्दी ही नहीं किसी भी भारतीय भाषा में नहीं है। उसका अपना रूप है, उसकी अपनी छटा है।

आपने लगभग २०० कहानियाँ, सैकड़ों निबन्ध तथा स्केच लिखे हैं और निरन्तर लिखते चले जा रहे हैं।

हिन्दी में प्रहसनों का सर्वथा अभाव है। आपने प्रहसन भी लिखे हैं जो अनेक संस्थाओं द्वारा सफलता पूर्वक अभिनीत हो चुके हैं। रंगमंच की टेकनीक का उन्हें पूरा ज्ञान है और वे एक सफल अभिनेता भी हैं।

उनकी हास्य रस प्रकाशित रचनाओं के नाम हैं:—

१—बेढब की बहक (कविता)
२—बिजली (कविता)
३—बनारसी एक्का (कहानी संग्रह)
४—मसूरी वाली (,,)
५—गांधीजी का भूत (,,)
६—टनाटन (,,)
७—धन्यवाद (,,)
८—उपहार (आत्म व्यंजन निबंध)
९—महत्व के गुमनामपत्र (पत्र-साहित्य)

१०—लफटंट पिगसन की डायरी (उपन्यास)

११ —हास परिहास (संपादित काव्य-संग्रह)

१२—अभिनेता (प्रहसन)

इसके अतिरिक्त हास्य रस का शिष्ट निर्माण उन्होंने पत्रों का सम्पादन एवं संचालन कर किया। 'भूत', 'खुदा की राह पर' तथा 'तरंग' के वे विधाता थे। हास्यरस के ऐसे सुसम्पादित पत्र आज तक प्रकाशित न हुए। इन पत्रों में इतनी ठोस सामग्री है कि उनकी फाइलें आज भी नहीं मालूम पड़ती हैं।

गौड़ जी एक संस्था है

गौड़ जी न केवल लेखक है, अपितु एक सस्था भी है। काशी की प्रत्येक सास्कृतिक एवं साहित्यिक संस्था के संचालन में प्रारम्भ से ही उनका हाथ रहा है। वे कई बार नागरी प्रचारिणी सभा के प्रधान मंत्री, सम्मेलन के साहित्य मंत्री एवं अध्यक्ष रह चुके हैं।

उन्होंने अनेक साहित्यकारों का भी निर्माण किया है जो उनकी सहायता के अभाव में वह न हो पाते जो आज है। हिन्दी की इतनी बड़ी सक्रिय सेवा कम लोगों ने ही की है। इन पर प्रत्येक हिन्दी भाषा भाषी को गर्व है।

—:०:—

[१६]

डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा

रीवाँ प्रदेश में नागोद नामक एक राज्य है। राज्य में उनचेहरा नामक एक गाँव है। उस गाँव में २९ जून सन् १६०५ को एक बहुत बड़ी बात हुई। वह बात यह थी कि, हिंदी आलोचना जगत का एक देदीप्यमान नक्षत्र उदित हुआ, उस नक्षत्र को लोग डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा के नाम से जानते हैं।

चार वर्ष भी अपने गाँव में वे खेल खा न पाये कि अपना समझ कर काशी ने उन्हें बुला लिया। इस विभूतिमयी नगरी में भोले बाबा विश्वनाथ की छत्रछाया में उन दिनों एक विद्यालय चलता था, जिसका नाम सनातन धर्म स्कूल था, वहीं उनकी शिक्षा आरंभ हुई। रहते तो थे औरंगाबाद में, किन्तु पढ़ने जाते थे विश्वनाथ गली में। वहाँ कक्षा ६ तक पढ़ते रहे। वहाँ आपके सहपाठी थे, सुप्रसिद्ध आलोचक पं० कृष्ण शंकर शुक्ल।

उस समय काशी का सेण्ट्रल हिन्दू स्कूल यहाँ के अंग्रेजी स्कूलों का मुकुट मणि था। उस समय वहाँ प्रधानाध्यापक थे, पं० गुरु सेवक उपाध्याय, 'हरिऔध' जी के भ्राता। किंतु उससे भी बड़ी बात उस समय उस स्कूल में थी। वह बात यह थी कि शायर, सिंह और सपूतों का वहाँ मेला लगा था। हिंदी के महान पत्रकार, वर्त्तमान उत्तर प्रदेश के परम जनप्रिय नेता, उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व सूचना और सिंचाई तथा वर्तमान शिक्षा, गृह और सूचना मंत्री पं० कमलापति त्रिपाठी, हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ वर्त्तमान नाटककार एवं अंतदर्शी कवि पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र, हिन्दी के बेजोड़ साहित्यकार पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', हिंदी के महान रोमांटिक कहानीकार पं० विनोद शंकर व्यास

वहाँ ज्ञानार्जन कर रहे थे। ये सबके सब लोग एक ही अखाड़े के भिन्न दाओं के पहलवान थे।

लोग समझते हैं, पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र अधूरे महाकवि हैं, क्योंकि उनका महाकाव्य 'कर्ण' अठारह वर्षों में भी पूरा नहीं हो पाया, पर सत्य यह है कि वे जन्मजात महाकवि हैं। उन्होंने सातवीं कक्षा में एक महाकाव्य 'गंगावतरण' नाम से लिखा। इसका संशोधन किया; जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने। यह सातवीं कक्षा की बात है।

उसी समय औरंगाबाद में एक पुस्तकालय की भी स्थापना की गयी। पं० कमलापति त्रिपाठी, 'उग्र', श्रीराम नाथ सुमन और जगन्नाथ जी उसके संस्थापक थे। उसका नाम था लक्ष्मी गोपाल पुस्तकालय। 'उग्र' जी ने 'उग्र' और 'न्याय' नामी पत्रिकाएँ निकालीं जिनमें शर्मा जी का भी योग था।

उस समय काशी में लाला भगवान 'दीन' तप रहे थे। उनका पूरा जीवन ही साहित्यमय था। वे साहित्य से अधिक हिंदी साहित्यकारों एवं हिन्दी-प्रेमियों का निर्माण कर रहे थे। साहित्य-विद्यालय उनकी निर्माणशाला थी। साहित्य में काशी के जितने लोग आज तपाक से तप रहे हैं, उनमें से अधिकांश को इस विद्यालय ने प्रकाश दिया है, चेतना दी है और हिंदी तथा साहित्य के प्रति आत्मीयता और आस्था प्रदान की है। शर्मा जी भी इस विद्यालय में पधारे। लाला जी ने नागरी प्रचारिणी सभा में उनका प्रवेश कराया।

आधुनिक हिंदी की निर्माणशाला 'सभा' में उनका सम्पर्क डा० श्यामसुन्दर दास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० गोविन्दनारायण मिश्र पं० किशोरीलाल गोस्वामी, पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं० रामावतार शर्मा से हुआ। उस समय शर्मा जी २०-२२ वर्ष के जवान थे। उस समय जवानों का एक नेम, एक व्रत, एक धर्म था, फिरंगियों से देश को मुक्त कर देश में तिरंगा लहराने का। उस समय चन्दौली इनका राजनीतिक कार्य-क्षेत्र था, काशी विश्वविद्यालय उपाधि-वाली अध्ययनशाला थी, दीन विद्यालय एवं सभा में साहित्य और हिंदी की सेवा होती थी। सभी क्षेत्रों में काम होता था, मस्ती-पानी के साथ। आप नागरी-नाटक मण्डली के रंगमंच पर भी १६१८ से १६२६ तक बराबर उतरते रहे।

साहित्य के क्षेत्र में उनका विशेष सम्पर्क सभा में डा० श्यामसुन्दर दास और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से हुआ। साहित्यकारों में सर्वाधिक प्रभाव उनके स्वभाव और कार्य पर इन्हीं का ही पड़ा। उनके स्नेह से इनमें साहित्य-संस्कार की प्रतिष्ठा प्रवर्द्धित होती गयी।

यद्यपि पहली रचना शर्मा जी की 'स्वदेश' गोरखपुर में इनकी १३ वर्ष की ही अवस्था में प्रकाशित हुई, 'रसिकेश' के नाम से निरंतर पत्र-पत्रिकाओं में कविता और कहानी लिखते रहे, काशी से प्रकाशित 'बालिका' (सन् १९२७) का संपादन करते रहे तो भी उस समय यह सब देखकर यह संभावना नहीं थी कि श्रीमन् हिन्दी के मूर्धन्य आलोचक भी होंगे। पर बाबू साहब ने उनके स्वभाव को ऐसा मोड़ा और शुक्ल जी ने उनके कृतित्व को इस प्रकार सँवारा कि वे केवल आलोचक रह गए, उनका कवि और कहानीकार उनके हृदय के रस-रंग में डूब गया।

आप सन् १९३० में गांधी जी की पुकार पर दशाश्वमेध पर जलूस निकालने के जुर्म में ठाकुरप्रसाद वकील, यज्ञनारायण उपाध्याय, रामेश्वर सहाय सिनहा, तारापद भट्टाचार्य के साथ चार महीने के लिए कारा में मौज लेने चले गए। इधर नागरी प्रचारिणी पत्रिका में उनका प्रबन्ध छप रहा था। शुक्ल जी उसका परिष्कार कर रहे थे और बाबू साहब प्रूफ देख रहे थे। जेल में ही इन्हें अपनी यह पुस्तक प्रकाशित रूप में मिली। १६ फरवरी सन् १९३१ को आप रिहा हुए। उसी वर्ष आपकी नियुक्ति हिंदी विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में अध्यापक पद पर हुई। यद्यपि पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर आप लिखते रहे, विशेष कर घनिष्ठता के कारण प्रेमचन्द जी के पत्रों में (हंस और जागरण), तो भी आपने बारह वर्षों तक कोई रचना नहीं की।

डा० श्यामसुन्दर दास ने सन् १९४२ में आपको आदेश दिया कि डि० लिट् उपाधि के लिए प्रसाद के नाटकों पर प्रबंध लिखो। केशव जी ने शास्त्रीय अध्ययन प्रबंध के साथ जोड़ने की सलाह दी। तत्काल प्रबंध लिखा गया और ६ माह के भीतर ही आपको डि० लिट् की उपाधि प्राप्त हुई। यद्यपि बीच-बीच

में आपकी पाठ्य-पुस्तकें प्रकाशित होती रहीं तो भी इस प्रबन्ध के बाद पाँच वर्ष पश्चात् सन् १९४८ में हिंदी-गद्य के युग निर्माता नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। इधर आपकी दो पुस्तकें अकथ तकाजे पर प्रकाशित हुई हैं। उनका नाम है, कहानी का रचना विधान (१९५३ सन्), हिन्दी गद्य का इतिहास (१९५७)।

उनका स्वभाव अनूठा है। वे राजसी शान-बान के आदमी हैं, राजाओं के साथ रहने, खेलने, खाने का उन्हें शौक है। उनके स्वभाव में इसीलिए एक विशेष प्रकार का बाँकापन है। यह बाँकापन उनमें ऊपर से नीचे तक है। इसके मूल में काशी की स्वच्छन्द आनन्दवादी औघड़ स्वतः समुच्छ्रित जीवनी शक्ति है, जो हर स्थिति और परिस्थिति में रस-प्राप्त करती रहती है। काशी के वातावरण की इस छाप पर डा० श्यामसुन्दर दास के स्वभाव की आभा स्थायी छाया चित्र सी पड़ी है। वे शिकारी हैं, साथ ही परोपकारी। अपने छात्रों तथा कमजोरों पर अपार स्नेह रखते हैं पर जरीवाला राजसी स्वभाव उस स्नेह परिधान को स्वर्ण तारों की आभा से ढके रहता है। वे अपने में मस्त रहते हैं, छोटों से गंभीर रहते हैं। उन्हें देखकर सामान्यतः लोग भयवश गंभीर रहते हैं पर वे अपनी मंडली में खुल कर खिलते और खेलते हैं। वे सर्वोत्तम वस्तुओं का उपयोग और प्रयोग करते हैं। साथ ही उनकी एक विशेषता यह है कि सामान्य लोगों के लिए उनका दरवाजा सदा खुला रहता है। वे किसी की परवाह नहीं करते पर चाहनेवालों को उनसे 'आह' भी नहीं मिलती। जहाँ उनका स्वभाव बाबू साहब से प्रभावित हुआ वहीं उनकी लेखनी को गुरुत्व आचार्य शुक्ल जी से प्राप्त हुआ।

इस समय आप प्रसाद परिषद, वाराणसी के अध्यक्ष, काशी हिन्दू विश्व विद्यालय के हिन्दी विभाग में रीडर, लाला भगवान दीन विद्यालय के उपाध्यक्ष, उत्तर प्रदेश सरकार हिन्दी सलाहकार समिति के सदस्य, उपाध्यक्ष-भारतीय साहित्य संगम, वाराणसी, और हिन्दी अनुसंधान समिति आगरा विश्व विद्यालय के सदस्य रूप में सफलता पूर्वक अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह कर रहे हैं। हिन्दी साहित्य में डा० शर्मा की ख्याति आलोचक के रूप में है। उनकी निम्नलिखित पाँच समीक्षा पुस्तकें अभी तक प्रकाशित हुई हैं :—

(१) हिन्दी गद्य शैली का विकास (सन् १६३१)—नागरी प्रचारिणी सभा काशी से प्रकाशित आमूल परिवर्धित संशोधित सप्तम संस्करण सन् १६५६ ।

(२) प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन (सन् १६४३) सरस्वती मंदिर, वाराणसी से प्रकाशित, पञ्चम संस्करण ।

(३) हिन्दी गद्य के युग-निर्माता (सन् १६४८) समीक्षा—संसद, वाराणसी से प्रकाशित । (इसका परिवर्धित संशोधित संस्करण शीघ्र प्रकाशित होगा) ।

(४) कहानी का रचना विधान (सन् १६५६) हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय वाराणसी से प्रकाशित ।

(५) हिन्दी गद्य-साहित्य का इतिहास (सन् १६५७) हिन्दी भवन प्रयाग से प्रकाशित ।

हिंदी आलोचना साहित्य में ये पाँचों पुस्तकें अपने अपने क्षेत्र में सर्वाधिक समादृत हैं । इस समादरण के मूल में इन पुस्तकों का गुण-धर्म है । शर्माजी इतना गढ़ कर लिखते हैं कि सामान्यतः जो कुछ वह लिख देते हैं, उस पर उससे अच्छा लिखना कठोर श्रम ही नहीं अद्वितीय प्रतिभा का कार्य है । श्रम के साथ प्रतिभा का विरल संयोग शर्माजी की आलोचना में है । इसलिए सामान्यतः ऐसा होता है कि उनके परिवर्ती अनेक लेखक उनके द्वारा प्रदत्त सामग्री का उपयोग भाषा बदल कर करते हैं । उदाहरण के रूप में अनेक आचार्य और डाक्टर रखे जा सकते हैं । तीन सज्जन तो मुझे ऐसे मिले जिनमें दो डाक्टर हैं और एक महान् पुरातत्व विद् । पुरातत्व विद् ने वाक्य के वाक्य ज्यों के त्यों अपनी पुस्तक में प्रकाशित कर दिए, एक डाक्टर ने बिना कामा और फुलिस्टाप के परिवर्त्तन के अपनी थिसिस में उनका एक अध्याय ही रख दिया, तीसरे डाक्टर ने प्रसाद के नाटकों के संबंध में उनकी सारी बातें अपनी मौलिक खोज बता कर रख दीं । ऐसा इसलिए हुआ कि उनसे आगे बढ़ने की सामर्थ्य उनमें न थी ।

वे हिंदी-गद्य-शैली के अप्रतिम विश्लेषक और प्रसाद के नाटकों के अद्वितीय सर्वमान्य आख्याता हैं । आलोचना में उनका ध्यान मूलतः आलोच्य

वस्तु पर केन्द्रित रहता है। वे उन आलोचकों में नहीं है जो शिक्षा के व्यापारिक बाढ़ में बह जाते हैं अपितु वे ऐसे आलोचक हैं जो सत्य की प्रतिष्ठा के लिए सदैव तत्वाभिनिवेश का मान करते रहते हैं। इसलिए उनके विश्लेषण में सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्वों की मीमांसा का भी दर्शन होता है। उनके विश्लेषण में बुद्धि पक्ष और हृदय पक्ष दोनों का सहज संयोग होता है। उनकी मीमांसा में अनावश्यक तत्व रहते ही नहीं। इसलिए उनकी आलोचना पूर्ण सुसंगठित एवं स्वस्थ होती है। उनमें कहानी-किस्सा और अनाथ-सनाथ बातों के लिए कत्तई स्थान नहीं मिलता। सैद्धांतिक समीक्षण में वे पूर्व और पश्चिम की मान्यताओं को रचनाओं के परीक्षण के लिए चुनते तो अवश्य हैं किन्तु रूढ़िवादियों की भाँति उन सिद्धान्तों को अन्तिम उत्तर नहीं समझते अपितु परीक्षण में उपलब्ध तत्वों से सिद्धान्तों में आवश्यक सुधार और परिष्कार कर अपना मानदण्ड निर्धारित करते हैं।

विषय-वस्तु की स्पष्ट व्याख्या उनकी मीमांसा में सर्वत्र दिखाई पड़ती है। वे सहज सूक्ष्म सत्यान्वेशी हैं, इसलिए व्यक्तिगत राग विराग से उनकी आलोचना सर्वथा मुक्त है। आज हिन्दी में वे विश्लेषणात्मक शैली के आदर्श प्रतिनिधि मीमांसक हैं। वे आलोच्य वस्तु के सूक्ष्म-से सूक्ष्म तत्वों का सहज सरल शैली में दर्शन करनेवाले सिद्धहस्त शास्त्रीय आलोचक हैं। उनकी भाषा और शैली में उनका निजत्व है। सामान्य वाक्यों में तत्सम संस्कृत शब्दों के गुम्फन से वे तत्वान्वेषण करते हैं। बीच बीच में बोल-चाल के बनारसी शब्दों का प्रयोग तत्व उद्घाटन के लिए वे प्रायः करते हैं। ये शब्द भाव प्रकाशन में सहायक होते हैं। उनकी शैली का एक सामान्य उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है :—

"समीक्षा की एक पद्धति ऐसी चली आ रही है जिसमें समीक्षक कृतिकार की आलोचना करते समय अपनी कल्पना, भावात्मकता और उद्भावना का ऐसा प्रयोग करता है कि कवि के साथ-साथ उसकी भावसत्ता का पूरा प्रसार देखने को मिलता चलता है। इस वर्ग के मूर्धन्य लेखक शांतिप्रिय द्विवेदी हैं। कहीं-कहीं उनकी समीक्षा में ऐसे भी स्थल आ गये हैं जहां आलोच्य पीछे

छूट गया है और द्विवेदी का हृदय उघाड़ कर सामने आ गया है। इसलिये इस कोटि की समीक्षा को निर्मितमयी रचनाओं में स्थान दिया जाता है। इसके अतिरिक्त एक विशाल तालिका उन श्रेष्ठ समीक्षकों की भी आज सामने आती है जिन्होंने शोध और अनुशीलन में प्रवृत्त होकर एक-से-एक उत्तम कृतियाँ प्रस्तुत की हैं। इन अनुशीलन सम्बन्धी प्रबंधों को आधुनिक आलोचना का प्रशस्त स्वरूप मानना चाहिये।"

डा० शर्मा की कृतियों ने हिन्दी का गौरव बढ़ाया है। ये आज अपने ढंग के अकेले सुप्रत पारदर्शी मीमांसक हैं।

[१७]

कहानीकार 'रुद्र' का शिल्प

श्री शिव प्रसाद मिश्र 'रुद्र' काशिकेय का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है—

जन्म—शारद नवरात्र ५।७ संवत् १९६८ वि०।

शिक्षा—हरिश्चन्द्र हाई स्कूल, क्वीन्स कालेज और हिन्दू विश्वविद्यालय
प्रेरणा के स्रोत— प्रसाद जी, उग्रजी।

कृतित्व—संन्यासी शंकर नाटक सन् १९३० ई०, उसी साल अभिनीत पूर्व कालिदास नाटक विक्रम परिषद् द्वारा निजी रंगमंच पर अभिनीत। विजयसेना और दशाश्वमेध अप्रकाशित नाटक। महाराज विष्णुपुर की नूरजहाँ, विद्यापति का सपना, पद-पल्लवम् आदि एकांकी नाटक। सन् १९३४ में पहली कहानी 'आशा और निराशा' प्रेमचन्दजी के 'जागरण' में प्रकाशित। कहानियों की कुल संख्या ४८। 'बहती गंगा' कथा-कृति। ब्रजभाषा और खड़ी बोली के साथ ही बनारसी में प्रभूत रचनाएँ। ब्रजभाषा में खंड काव्य 'अदृष्ट। निबन्ध-संग्रह 'मैं।' आचार्य सीताराम चतुर्वेदी के साथ लिखित दो ग्रन्थ, भाषा की शिक्षा और अध्यापन-कला। शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाली रचनाएँ—चञ्चितासु, पाताल गंगा नभ गंगा के तीरे तीरे, एक गली आठ मकान। हिन्दी गजलों का संग्रह गजलिका।

जीविका कर्म—पत्रकार के रूप में आज और सन्मार्ग में सम्पादन कार्य। पहले टीचर्स ट्रेनिंग कालेज और अब हरिश्चन्द्र डिग्री कालेज में हिन्दी प्राध्यापक।

'रुद्र' जी विभिन्न क्षेत्रों में हिन्दी की सेवा कर रहे हैं। यहाँ मूलतः उनके कथा-शिल्प पर विचार किया जायगा।

रुद्र जी कहानीकार के रूप में उस समय हिंदी जगत के सम्मुख आये जब हिन्दी-कहानी-साहित्य नया मोड़ ले रहा था। उनकी पहली कहानी सन् १९३४ में प्रेमचन्द जी द्वारा सम्पादित 'जागरण' में प्रकाशित हुई। लगभग उसी समय अज्ञेय, अश्क, अमृतलाल, नागर, उषादेवी मित्रा आदि की पहली कहानी प्रकाशित हुई। 'रुद्र' जी इस प्रकार हमारे कहानी साहित्य के तृतीय उत्थान के कथा-शिल्पी हैं। यद्यपि तब से आज तक निरन्तर कहानियाँ लिखते चले जा रहे हैं तो भी प्रचार-प्रसार की अपेक्षा साहित्य-साधना में उनका अधिक विश्वास रहने के कारण उनके साहित्य का बाहर विशेष प्रचार न हो सका। हिंदी जगत का ध्यान उनकी ओर 'बहती गंगा' ने आकृष्ट किया और निर्विवाद रूप से आज वे हिंदी के एक श्रेष्ठ कथा-शिल्पी माने जाते हैं।

यद्यपि साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों को हरा-भरा करने में उन्होंने योग दिया है, तो भी वर्तमान कथाकारों में उनका अपना मौलिक स्थान है। आज-कल 'आंचलिकता' की साहित्य में विशेष चर्चा है। आधुनिक हिंदी साहित्य में वे पहले आंचलिक कथा-शिल्पी हैं। उन्होंने बनारसी वातावरण की, बनारसी घटनाओं को आधार बनाकर, बनारस में रह कर, बनारसी जीवन की भाँति मस्त-मौला शैली में अपनी कहानियाँ लिखीं। उनकी प्रेरणा के 'स्रोत' भी बनारसी साहित्यकार 'प्रसाद' और 'उग्र' रहे। इसलिए इस क्षेत्र में उनका प्रवर्त्तन अति महत्व का कहना अत्युक्ति न होगी।

उनकी पहली कथा-कृति के रूप पर बहुत विवाद हुआ। कुछ लोगों ने उसे उपन्यास बताया, कुछ ने कहानी संग्रह। लेकिन अच्छा उसे सबने बताया। बनारस के लोग विनोदप्रिय हुआ करते हैं। 'रुद्र' जी ने भी विद्वानों से विनोद किया, मजा लिया, वास्तव में ये कहानियाँ हैं, उपन्यास नहीं।

'रुद्र' जी पक्के बनारसी हैं। आनन्द उनके जीवन का चरम परम ध्येय है। हर कर्म में वे उसे ढूँढ़ लेते हैं या आनन्द ही उन्हें ढूँढ़ लेता है। वे रसवादी विचार सरणि के आनन्दवादी लेखक हैं। उनकी प्रत्येक कहानी इसका

प्रमाण है। उनकी कहानियों में प्रसाद का हृदय और उग्र की वाणी का सम्मेलन है। इस सम्मेल में 'रुद्र' का निजत्व उनकी शैली का प्राण है। 'रुद्र' का निजत्व है अखण्ड बनारसी जीवन।

बनारसी जीवन का अर्थ है स्वराट में विचरण, लोक के लिये आनन्द आयोजन की साधना और मस्त फक्कड़ जीवन। काशी के लोग किसी के सामने झुकना नहीं जानते और जो काशी के लोगों के सामने झुकता है उसको सर पर बैठाने में भी वे नहीं चूकते। 'रुद्र' ऐसे ही बनारसियों में से एक हैं। यह बनारसीपन उनकी कहानियों में कूट-कूट कर भरा है।

उन्होंने अपनी कहानियों में काशी में घटित ऐसी घटनाओं को आधार बनाया है जिन घटनाओं की स्मृति काशी के लिए ऐतिहासिक महत्व की है। उन घटनाओं में उन्होंने सुरम्य कल्पना से सहारा लिया है जो कहानी को रोचक बना देती है। नाटकत्व के साथ-साथ कौतुहल का सहज संयोग फड़कती हुई चुस्त भाषा में उनकी कहानियों को सजीव रस मूर्ति सा ढाल देती है। उनके जैसी रससिद्ध कहानियाँ कम लिखी गयी हैं। कहानियों के नामकरण भी उनके आकर्षक होते हैं, यथा नागर नैया जाला काले पनिया रे हरि, सूली ऊपर सेज पिया की, रेलिया सवतिया पिया को लिए जाय, हाथी पर हौदा घोड़े पर जीन, ऐसा भागा वारेन हेस्टिंग्ज, एहि अँगना एहि डेहरी आदि। उनकी सजीव फड़कती शैली का एक नमूना नीचे दिया जा रहा है :—

"गाँव के छोटे, बड़े, मझोले लड़कों ने बुढ़िया को देखा तो सारा काम-काज छोड़कर वे उसके पीछे-पीछे चिल्लाते हुए चल पड़े—

बरसो राम धड़ाके से, बुढ़िया मर गयी फाके से'

और बुढ़िया भी उनकी ओर घूम, अपनी अँगुलियाँ चटका-चटका और पोपला मुँह मटका-मटका उन्हें कोसने लगी—फाके से मरे तेरा बाप! फाके से मरे तेरा चाचा। दाढ़ीजार, निगोड़े, तुम सबको भवानी खायँ, सीतला ले जायँ!

बुढ़िया के मुँह से गालियों की झड़ी लग गयी, बिलकुल उसी तरह जैसे आश्विन के महीने में सबेरे-सबेरे पारिजात के फूल झड़ते हैं, परन्तु लड़कों की

टोली जिसके पीछे पड़ जाती है उसे गाली तो क्या गोली भी मुश्किल से छुड़ा पाती है। बुढ़िया की गाली और लड़कों के नारों में अभी रस्साकशी हो रही थी कि सर्वाधिक शरारती मूलेको और भी शैतानी सूझी। उसने गोबर उठाकर ढेले की तरह बुढ़िया के मुँह पर दे मारा, गोबर बुढ़िया के मुँह में भी चला गया। थू-थूकर थूकती और खों-खोंकर खाँसती हुई बुढ़िया ने अपनी टेकने की लकड़ी मूले की ओर फेंकी, मूले उछल कर एक ओर हो रहा। लकड़ी नीम के पेड़ से टकरायी और उसे दासू ने उठा लिया।"

उनकी कहानियों में एक एक चित्र और चरित्र सजीव हो उठते हैं। गठन से लेकर अन्त तक सभी कुछ सहज स्वाभाविक रूप में आपकी कहानियों में मिलेगा। निर्विवाद रूप से हिन्दी के वे अपने ढंग के श्रेष्ठ मौलिक कहानीकार हैं।

[१८]

नयी कविता

विगत अनेक वर्षों से काव्य में नये प्रयोग की व्यापक चर्चा है। यह चर्चा इधर अपने पूर्ण यौवन पर रही। नये काव्य की यह चर्चा कड़ुआहट पैदा कर चुकी है। यद्यपि विगत अनेक वर्षों से हिन्दी कविता के क्षेत्र में नये प्रयोग और नई सम्भावनाओं की खोज की जा रही थी, तो भी विवाद का तनाव बढ़ता ही जा रहा।

नई कविता के पक्ष और विरुद्ध में विचारकों के दो वर्ग हैं। एक वर्ग उसका अन्ध समर्थक, दूसरा अंध विरोधी।

समर्थक ऐसा कहते हैं कि जीवन में मूल्य बदलते रहते हैं और आज के वैज्ञानिक युग में इन मूल्यों का परिवर्तन और गतिमय है। वैज्ञानिक प्रगति के साथ ही परिवर्तन से युग का जीवन प्रभावित होता है। काव्य उससे अछूता नहीं रह सकता। प्राचीन कविता में समय के साथ चलने की ताकत अब नहीं रह गयी है। वह रूढ़िग्रस्त हो गयी है तथा उसकी वस्तु सीमा अत्यधिक संकुचित है। साथ ही नयी कविता के समर्थक यह भी कहते हैं कि कविता प्रत्येक बन्धन से मुक्त होनी चाहिये। साथ ही नये कवि यह भी मानते हैं कि अब साहित्य में ओजस्विता के साथ काव्य की आत्मा क्या है, यह नयी कविता में ही देखा जा सकता है। वे अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि को काव्य की आत्मा माननेवालों को खंड सत्य पर आधृत मानते हैं। वे रस को भी काव्य का अन्तिम उत्तर स्वीकार नहीं करते क्योंकि ये समस्त समाधान मध्ययुगीन उस चिन्तन-धारा से उत्पन्न हुए हैं जो मध्यकालीन जीवन के अनुरूप था। फलतः वे सिद्धान्त आज के मानव की अनुभूति के सत्यांकन का आधार वहन करने में असमर्थ हो गये हैं।

यद्यपि वे रस-सिद्धान्त को अपेक्षाकृत अधिक मानवीय मानते हैं तो भी विज्ञान की बौद्धिक प्रगति के पराजय का दर्शन उन्हें रस-सिद्धान्त में होता है, क्योंकि उसमें भावुकता और कल्पना के कारण यथार्थ की कमी है। यह अभाव आज के बौद्धिक व्यक्तित्व के पराभव का सूचक है। इसलिए इन्हें ऐसी भावात्मकसत्ता पर ही विश्वास है जिसमें बौद्धिक व्यक्तित्व की पूर्ण स्थापना हो तथा बौद्धिक पराजय जन्य क्षोभ के लिए रंचक स्थान न मिले। इसके द्वारा इस नये काव्य में वे नये सौंदर्य बोध की बात करते हैं। साथ ही वे नयी कविता को मनोरंजन का साधन न मानकर मानव के बौद्धिक एवं अकृत्रिम व्यक्तित्व को नये सौंदर्य बोध के आधार पर मानवीय धरातल पर स्थापना मानते हैं। इस स्थापना के मूल में वह अपना उद्देश्य यह व्यक्त करते हैं कि नयी कविता अधिक आत्मविश्वास के द्वारा, विचार संकुल भाव सत्ता के द्वारा, नये सौंदर्य बोध द्वारा, आत्म-विश्वास के लिए नई भाव भूमि तैयार कर रही हैं तथा सभी रूढ़ियों को तोड़ कर नई चेतना के लिए नई सृष्टि कर रही है जो वैज्ञानिक प्रगति की गति के साथ बौद्धिक चिन्तनमय भावार्थ व्यक्त करने में सफल है।

नई कविता के समर्थक यह भी मानते हैं कि नई कविता लोगों की समझ में नहीं आती है। इस समझ का कारण यह नहीं है कि नई कविता में शक्ति नहीं, अपितु रूढ़िग्रस्त लोग बढ़े हुए जमाने के साथ अपनी बुद्धि का इतना अधिक विकास नहीं कर पाये हैं कि अपनी सीमित एवं कुंठित बुद्धि से इस नयी वस्तु को समझ सकें। बौद्धिक धरातल के उत्थान के साथ ही यह उनकी समझ में आने लगेगी। दूसरी बात इस क्षेत्र में यह कही जाती है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नये प्रयोग होते हैं, नया अनुसंधान होता है, हर क्षण नयी खोज होती रहती है। यह नवीनता उन्हें अनगढ़ और अनुपयुक्त लगती है जो एक सीमित क्षेत्र में कार्य करने के अभ्यस्त हो जाते हैं तथा जो उसके आगे अपनी दृष्टि नहीं ले जा सकते क्योंकि उनकी चिंतन प्रणाली तथा उनका जीवन विशेष प्रकार का हो जाता है तथा नवीन संचेतना के ग्रहण की उनकी शक्ति नष्ट हो जाती है।

जो लोग दूसरे पक्ष के हैं उनका ऐसा कहना है कि नई कविता सर्वतो-भावेन कुंठित है, वह कविता नहीं है, गद्य है। कुछ लोगों की स्टंटबाजी है,

यह शाब्दिक और बौद्धिक कसरत है। यह पश्चिम का अन्ध और विकृत अनुकरण है, हमारी धरती के प्रतिकूल है। पश्चिम में ऐसी कविताओं की समाधि लग चुकी है। मरी हुई चीज को नवीनता के बुद्धि-चमत्कार के कारण पुनः जिलाने का यह निरर्थक प्रयत्न है। इसमें रस नहीं है, ध्वनि नहीं है, अलंकार नहीं है, अर्थ नहीं है, तथा सौंदर्य-बोध की क्षमता नहीं है। इसकी सीमा संकुचित है। विरोध पक्ष के कुछ आलोचक सुलझे हुए गंभीर तर्कों के आधार पर अपनी मान्यताएँ प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि नयी कविता में भाव सत्ता और काव्यानुभूति के बीच बुद्धिगत संबध का प्राधान्य है, रागात्मक संबंध का अभाव है। इसमें साधारणीकरण के सिद्धान्तों का सर्वथा परित्याग है। बिना सोचे-समझे, नूतनता का गुण-धर्म जाने हुए ही नूतनता का इस काव्य में सर्वग्राही मोह है। नयी कविता उपचेतन मन के अनुभव खंडों के यथावत चित्रण का आग्रह तथा काव्य के सर्वमान्य तत्वों का एवं भाषा का वैयक्तिक एकान्त अनर्गल प्रयोग है। वे नयी कविता के समर्थकों के सैद्धान्तिक पक्ष को अपूर्ण, सदोषपूर्ण और खोटा घोषित करते हैं क्योंकि व्यापक जीवन के मूल तत्वों पर ध्यान रख, जीवन के अभ्युदय और विकास के लिए आस्थापूर्वक प्रयत्नशील हो रूढ़ि को उध्वस्त कर नवीन सार्थक विधि के आधार पर सार्थक सृष्टि के लिए नयी कविता नहीं रची जाती, अपितु केवल नवीनता द्वारा चमत्कार उत्पन्न करने के लिए कविता में नया प्रयोग किया जाता है, क्योंकि इससे काव्यगत मूल्यों का अनुचित तथा आवश्यक क्रम-विपर्यय उपस्थित होता है, काव्य की आत्मा का तिरस्कार होता है तथा प्रयोग की महत्ता इसमें इतनी अधिक मान ली जाती है कि प्रयोग ही साध्य हो जाता है और कविता का वास्तविक साध्य या कविता का मूल तत्व समाप्त हो जाता है।

दोनों पक्षों ने एक-दूसरे के पक्ष-विपक्ष में उत्तर-प्रत्युत्तर में इतना अधिक लिखा है कि यदि एक साथ सबको पढ़ा जाय तो दोनों ओर से हास्यास्पद, मनोरंजक, कुतूहलवर्द्धक बातें सुन और देख पड़ती हैं क्योंकि दोनों पक्ष प्रस्तुत सामग्री की समीक्षा न कर वास्तव में बौद्धिक कसरत और दाँव-पेंच उपस्थित

करते हैं। इस दाँव-पेंच के साथ ललकार भी लगाई जाती है और वह ललकार साहित्य के क्षेत्र की न होकर सड़क पर के चालू मजमेबाजों की है।

ऐसी बात नहीं है कि कुछ लोगों ने नयी कविता के संबंध में संतुलित विचार उपस्थित न किया हो लेकिन उनकी आवाज दोनों पक्षों के चिल्लाहट में उभर नहीं सकी? पर सौभाग्य की बात है कि इस वर्ष दोनों पक्षों का दुराग्रह उनके पक्ष के लोग भी समझने लगे हैं। क्योंकि चिल्लाने वाले थक-से गये हैं। देखनेवालों की बारी अब आई है। जिस प्रकार बाढ़ में नौका-विहार सरल नहीं है उसी प्रकार जब नया प्रयोग बरसाती नदी की भाँति फूटने का प्र.ल करता है तो सुबुद्ध लोग सामान्यतः नौका-विहार नहीं किया करते, वे घाट पर खड़े होकर बाढ़ के तर्जन-गर्जन का आनन्द लेते हैं। नयी कविता के मोल-भाव करनेवालों के बाजार में माल का मोलभाव अभी तक उसी रूप में किया जाता रहा है जिस रूप में नयी कम्पनी का माल लेकर कोई तगड़ा कन्वेसर बिना नमूने के किसी तगड़े व्यापारी को जो किसी प्रतिष्ठित कम्पनी का एजेण्ट हो, अपने माल की श्रेष्ठता समझाता हो और अढ़तिया यह कहता हो कि जिस माल के हम एजेन्ट हैं, वैसा माल पैदा किया ही नहीं जा सकता। उसी प्रकार नयी कवितावाले अपना माल दिखाने पर कम बात करने पर अधिक ध्यान दे रहे थे और नयी कविता के विरोधी उनके तर्कों का उत्तर उनकी वार्ता के आधार पर बौद्धिक दृष्टि से दे रहे हैं।

इस उत्तर-प्रत्युत्तर में कविता पर्दे के पीछे रहती है। दोनों पक्षों का दुराग्रह आगे रहता है। एक पक्ष केवल अपनी अच्छाइयाँ दिखाता है दूसरा पक्ष केवल बुराइयाँ देखता है। ऐसी स्थिति में उचित यही होगा कि वस्तु को देखकर नयी कविता की जाँच-पड़ताल की जाय; उसकी उपलब्धि और संभावनाओं पर दृष्टि डाली जाय और उसकी कुंठाओं का परिचय दिया जाय।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में काव्य के क्षेत्र में बीसवीं शताब्दी भाव धारा की दृष्टि से अनेक उपलब्धियों का विषय रही है। इसके मूल में उपलब्ध वस्तु, सामग्री से नयी पीढ़ी का असंतोष रहा है। इसलिए काव्य के क्षेत्र में एकान्त अथवा सामाजिक कोई भी भाव धारा आन्दोलन के रूप में आई। नयी कविता

की रूप प्रतिष्ठा भी खड़े होने के पूर्व ही अपने आगे आन्दोलन खड़ा करने में सफल रही है। पहला प्रश्न यहीं उठ जाता है कि क्या कविता के क्षेत्र में नये परिवर्तन की आवश्यकता थी?

इस प्रश्न का उत्तर देना अत्यन्त सरल है। सरल इसलिए कि 'कामायनी' के प्रकाशन के बाद छायावाद के प्रमुख स्तम्भ भी नयी भावभूमि पर उतरते दीखते हैं तथा छायावाद के प्रमुख समर्थक आलोचक भी उसके आवश्यकता की परिसमाप्ति की घोषणा करते हैं। किन्तु जिस विचारधारा के लोग साहित्य में जनमंगलवादी, रसवादी अथवा राजनीति छाया पल्लवित प्रगतिवादी साहित्य की स्थापना के हामी थे, उनका साहित्य प्रचारात्मक अधिक था, रागात्मक कम। साथ ही उनके साहित्य में जीवनव्यापिनी ऐसो उद्‌बोधनी शक्ति नहीं थी जो सामयिक महत्व के होते हुए भी दीर्घकालिक मूल्य अपना स्थापित रख सके। कहना न होगा कि अधिकांश काव्य-साहित्य जो प्रगतिवाद के नाम से प्रस्तुत किया गया; प्लेटफार्म के भाषण का और राजनीतिक दृष्टि से पद्य में विचार-भंगिमा का नियोजन था। यह नियोजन भी रागात्मक नहीं था। गद्यात्मक तथा शाब्दिक अधिक था। साथ ही अधिकांश प्रगतिशील रचनाओं में सर्जना नहीं आन्दोलन वृत्ति थी। बिना सर्जना के आन्दोलन अधिक दिनों तक नहीं चल सकते, इसीलिए प्रगतिवाद को नन्हीं-सी आयु में 'क्षय' लग गया। ऐसी स्थिति में नवीनता की अपेक्षा काव्य में की जाने लगी। नवीनता केवल ढाँचे की नहीं, भावों की भी।

जब ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है तो आवश्यकता इस बात की पड़ती है कि ऐसे अनुभवसिद्ध जन जिन्होंने पूर्वकालिक उपलब्धियों और अनुसंधानों में योग दिया है, वे आवश्यकता के अनुसार नये पथ की खोज करें। कहना न होगा कि विख्यात लोगों में नवीनता का श्रेय अज्ञेय के माथे का सेहरा बना। यद्यपि अज्ञेयजी हिन्दी काव्य के क्षेत्र में तीसरे दशक के अन्त तक आ चुके थे, उस समय की उनकी रचनायें छायावाद की काव्य पद्धति से पूर्ण प्रभावित हैं तथा छायावाद की विकृतियों से पूर्ण संभवतः। इसी कारण से उन्होंने अपनी पूर्व

रचनाओं को अब अपनी स्वस्थ रचना के रूप में ग्रहण करने से अस्वीकार कर दिया है तथा उस समय की चुनी हुई कविताएँ ही अपनी घोषित की हैं।

वास्तव में हिन्दी साहित्य के चौथे दशक में कविता के क्षेत्र में सर्वाधिक व्यापक प्रयोग निराला जी ने किया। जो कुछ भी हो, नयी कविता की आवश्यकता थी, इस बात में दो मत नहीं हो सकते। नयी कविता के क्षेत्र में इधर नेतृत्व अज्ञेय ने किया। नेतृत्व इसलिए कि नयी कविता का आन्दोलन उन्होंने चलाया। इस आन्दोलन का शुभारम्भ तारसप्तक के प्रकाशन से होता है। यह आन्दोलन विरोध सहता हुआ आगे बढ़ा है और आज अपने यौवन पर है। यद्यपि प्रत्येक आन्दोलन की तरह यह आन्दोलन भी अब तक उच्छृङ्खल है। इसके आन्दोलन कर्त्ताओं में अहं अधिक है। वे अपने को तथा अपने साहित्य को बुरा सुनने और मानने के लिए कतई तैयार नहीं हैं। ज्यों-ज्यों वृक्ष बड़ा होता जा रहा है त्यों-त्यों डाल के नमन की स्थिति उत्पन्न होती जा रही है। यह शुभ लक्षण है जो गत वर्ष प्रकट हुआ है।

अपने देश की यह परम्परा है कि जब कोई नया कार्य आरम्भ किया जाता है तो मंगल के लिए विभूति स्तवन किया जाता है। जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ विभूति वंदना की यह परम्परा इसलिए है कि स्रष्टा अपनी सृष्टि के सौंदर्य पर मुग्ध न होकर अपने उद्‌देश्य पर अडिग रहे। उन संकल्पात्मक भावनाओं की पूजा करे जिन भावनाओं के कारण नयी सृष्टि रचना की ओर उसके चरण बढ़ रहे हैं। नयी कविता (तारसप्तक) कवियों के आत्म-विश्लेषण के साथ प्रकाशित हुई। यहीं से नयी कविता अपनी नयी सृष्टि स्थापन का यज्ञ आरम्भ करती है। यह स्वदर्शन की बात यद्यपि नयी नहीं है पर स्वपरीक्षण के स्वयंमान्य आधारों की उद्‌घोषणा इसकी नवीनता है। नवीनता इस अर्थ में कि सामग्री के व्यापक प्रसार, तथा सीमित निर्माण के पूर्व ही परीक्षण के अलग-अलग कसौटियों की घोषणा। आत्मप्रदर्शन (अपने को दिखाना) की वृत्ति भी उसके साथ आगी। अपने को दिखाना बुरा नहीं है यदि दिखाने लायक कोई चीज अपने पास हो किन्तु बिना वस्तु के अभाव में अपने विषय में अधिक कहना और सुनना गंभीर निर्माण का द्योतक नहीं माना जा सकता और स्पष्ट कहा जाय तो वे बातें अधिक

करते हैं जो काम कम करते हैं और शोर वे अधिक मचाते हैं जिनमें शक्ति नहीं हुआ करती। भले ही यह बात कठोर हो किन्तु मनोविज्ञान भी इस सत्य को स्वीकार करता है। पर दुनियाँ भी प्रचार और प्रसार की है और इस वैज्ञानिक-व्यापारिक युग में तो बौद्धिकों का ऐसा कथन है कि पूँजी का विनियोजन करते हुए प्रोपेगैन्डा पर आधे से अधिक पूँजी लगा दी जाय तो यह व्यापार के लिए सहायक ही सिद्ध होगा, इसलिए यदि नयी कविता के विधाता अपनी सृष्टि की व्याख्या उपस्थित करते हुए प्रकट हुए तो बुरा नहीं मानना चाहिए।

तारसप्तक में जितने कवियों की रचनायें दी गयीं हैं। संभवतः सब के सब भारत के प्राचीन साहित्य के न सही अत्याधुनिक साहित्य के निश्चय ही ज्ञाता हैं। इस तथ्य से वे अवगत हैं कि उनके पूर्ववर्ती प्रमुख कवि और साहित्यकारों ने भी अपने साहित्य के सम्बन्ध में व्याख्यायें उपस्थित कीं। उन व्याख्याओं के कारण उनका सिक्का साहित्य के क्षेत्र में चला। यदि किसी का सिक्का चलता है किसी कारण से, तो उस कारण का उपयोग उसके अनुवर्ती साहित्यकार भी करते हैं, करना भी चाहिए; किन्तु ऐसा करने के पूर्व स्थिति और परिस्थिति का ध्यान रखना बुद्धिमान चिंतकों का बहुत बड़ा दायित्व हो जाता है। यह दायित्व तब और बढ़ जाता है जब अपना 'मेक अप' स्वयं करना पड़ता है। इन आत्म-विश्लेषणों का दर्शन और परीक्षण करना अप्रासांगिक न होगा।

प्रारम्भ से अन्त तक आज तक इस आन्दोलन के समर्थकों ने आत्म-विश्लेषण संबंधी जो वार्तायें प्रस्तुत की उनमें नयी कविता के सम्बन्ध में इनके विचार परस्पर विरोधी हैं। अलग-अलग ढंग से अपनी-अपनी बात इन लोगों ने कही है। जहाँ आन्दोलन होता है, वहाँ उद्देश्य की एकता अनिवार्य है। यद्यपि इन आन्दोलन-कर्ताओं का उद्देश्य एक ही है और वह यह कि नयी कविता की सुदृढ़ स्थापना हिन्दी में की जाय क्योंकि पुरानी कविता-प्रणाली और स्वयं पुरानी कविता अब आज के उपयुक्त नहीं रह गयी है। इस उद्देश्य के लिए जहाँ सब एक मत हैं वहीं जब अपने-अपने का प्रश्न आता है तो वे विलग-विलग दिखाई पड़ते हैं। विचारों के क्षेत्र में उद्देश्य की एकता बनाये रख कर चिन्तन का बिलगाव कुछ अर्थों में मौलिकता एवं शक्ति का सूचक है किन्तु मौलिकता के

लिए उपयोगिता का सर्वनाश सामान्य लोग स्वीकार नहीं कर सकते। जो बिल-गाव विचारों का दीख पड़ता है उसका आधारभूत ध्येय यह दिखता है कि ये कवि अलग-अलग यह सिद्ध करना चाहते हैं कि वास्तव में जो कुछ वे लिख रहे हैं, वही वास्तविक नयी कविता है, और मैं ही नयी कविता का सिरमौर हूँ अन्य लोग जो नयी कविता लिख रहे हैं, उनमें वह उभार नहीं है जो मुझमें है। फिर निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि इस मौलिक चिन्तना के मूल में अहम् की भावना सहनशीलता से अधिक है।

अहम् का सीमा पार करना दुर्बलता का प्रतीक है। क्योंकि अहम् वे ही करते हैं जो या तो अपनी आकांक्षायें पूरी न कर सकने के कारण एकान्त मन के बुल्ले फोड़ते हैं या वे जिनके पास कुछ शक्ति होती है उस शक्ति से अधिक अपनी मान्यता स्थापित कराना चाहते हैं। अहम् की अत्यधिक अभिव्यक्ति तथा उसका प्रचार मानसिक दुर्बलता का प्रतीक है। मानसिक दुर्बलता साहसिक सृष्टि के लिए उत्प्रेरित कर सकती है किन्तु जो कोई भी ऐसा करेगा उसका एकान्वय सीमित स्वार्थ के लिए होगा। इस दृष्टि से चिन्तन सीमा, विकास सीमा, प्रकाश सीमा और अभिव्यक्ति सीमा अहम् के कारण सबल हो सकेगी यह एक प्रश्न है ! नये युग के अनुरूप रास्ता बनाने के लिए संघर्ष के समय अहम् की आवश्यकता अनिवार्य है किन्तु वह ऐसा अहम् होना चाहिए जिसमें व्यक्ति नहीं वर्ग का स्वार्थ हो, एक नहीं साथ चलने वाले सबका लाभ हो। पर इस आन्दोलन के मूल में एक कुत्सित वृत्ति कार्य कर रही है और वह कुत्सित वृत्ति यह है कि नयी कविता का प्रत्येक व्यक्ति अपनी ही कविताओं को सर्वोत्तम मान रहा तथा दूसरे की नयी कविताओं को वह सदोष मानता है। इस कार्य से नयी कविता के आन्दोलन की गरिमा को आघात पहुँचता है। कविता पर अहम् का क्या प्रभाव पड़ रहा है इस संबंध में आगे विचार करूँगा, यहाँ केवल आन्दोलन तक ही बात सीमित रखना चाहता हूँ।

पहले इसके नामकरण पर हम विचार करेंगे। कुछ लोगों ने पहले इसका नाम प्रयोगवादी कविता रखा, पुनः उसे बदलकर प्रयोगशील कविता किया और अब इसे नयी कविता के नाम से लोग पुकारने लगे हैं। जहाँ तक नामकरण का

प्रश्न है, नयी कविता नाम मुझे उपयुक्त नहीं लगता। नया विशेषण काल-ग्रस्त है। आज जो चीज नयी लग रही है, कल वही पुरानी हो जायेगी। फिर इतिहास में ऐसे नाम की स्थिति क्या रह जायेगी? दूसरा तरीका यह हो सकता है कि प्रवृत्तियों के अनुसार इस कविता का नाम रखा जाय किन्तु खेद है कि नयी कविता में एक नहीं अनेक प्रकार की, अनेक विचारधाराओं की, अनेक वादों की कविता दीख पड़ रही है। इसलिए प्रवृत्तियों के अनुसार नामकरण का प्रयत्न एकांगी हो जायेगा। इसके रचनाविधान के अनुसार इसका नाम रखा जाय तो यह प्रश्न उठता है कि इसके रचना-विधान की कोई शिल्प-विधि नहीं है, क्योंकि यह प्रयोगावस्था में ही है। ऐसी स्थिति में बहुत बड़ी समस्या यह खड़ी हो जाती है कि नयी कविता को क्या संज्ञा दी जाय। मेरी दृष्टि में यदि इसके प्रवर्तक इसका नाम 'प्रमुक्त' कविता रख दें या 'विमुक्त' कविता रख दें, तो संभवतः ऊपर व्यक्त आशंकाएँ न रह जाय और आशय भी प्रकट हो जाय। हो सकता है इस नामकरण की स्वीकृति में आपत्ति हो किन्तु यह मेरा सुझाव मात्र है। स्वीकृति के लिए आग्रह या प्रार्थना नहीं।

अब नयी कविता के रूप-विन्यास की ओर मैं ध्यान देना चाहूँगा। जो नयी कवितायें इधर प्रकाशित हुई हैं उनमें से पाँच-छः कवितायें जो छोटी है यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ, बिना नाम यश का ध्यान किए हुए।

पैतृक युद्ध

कौन कल तक बन सकेगा कवच मेरा?
युद्ध मेरा, मुझे लड़ना
इस महाजीवन सफर में अन्त तक कटिबद्ध
सिर्फ मेरे ही लिये यह व्यूह घेरा,
मुझे हर आघात सहना,
बाँधे निश्चल् मैं नया अभिमन्यु, पैतृक युद्ध

—कुँवर नारायण

× × ×

पुनः भिक्षु

द्वारे एक भिक्षुक बोले मां
दान देवो, आज के प्रदोष आशे
'सत्कारो बेटी ! अन्न दे भिक्षुक के'
'न मां ! अन्न प्रियी नेही वो'
'मुद्रा संग श्रीफल दे तुष्ट करो'
'ना मां ! वह वीतरागी स्वीकारे यह भी ना'
'तो वह इस ड्योढ़ी से क्या चाहे बोलो ?'
'क्या जाने ? ऐसे ही बोला वह
अपने को वर दे, श्रेष्ठ ! तू अपने को वर दे'
'पामर को देखूँ तो··भिक्षु बड़ा···'
द्वार का भिक्षुक था चला गया
कंचन से कुन्तल उस मोड़ झलमला गये
'बेटी यह यौवन था वरने को आया
यौवन भी भिक्षुक है
तिथि सा जो आता है वरने को'
अपने को दोगे ?
देना है कठिन ! !

—नरेश मेहता

× × ×

बम्बई

एक दीवार,
दीवार पर जमी काई,

काई पर सूखी, काली छाया
एक मैदान,
मैदान : सुनसान, पिटा सा, बेजान,
बेजान दाहकता का कहीं से चीत्कार आया।
एक खिड़की
खिड़की पर झुकी दुबली लड़की
लड़की की आँखों में उदासी का साया।
एक माता
माता की छाती से चिमटा बच्चा,
बच्चा है भूखा : माता का परस अलसाया
एक आकाश,
आकाश की देह को चीरता जहाज,
जहाज की परछाई पकड़ने को हाथ फैलाया।
एक दीवार, एक मैदान, एक खिड़की, एक माता, एक आकाश
फैली कुनकुनी बातास,
मछली के तलने की,
रबड़ के जलने की,
मीठी कड़वी बास।

—वसन्त देव

× × ×

पश्चिम के समूह जन

एक मृषा जिसमें सब डूबे हुए हैं
क्योंकि एक सत्य जिससे सब ऊबे हुए हैं।
एक तृषा जो मिट नहीं सकती इसलिए मरने नहीं देती

एक गति जो विवश चलाती है इसलिए कुछ करने नहीं देती।
स्वातन्त्र्य के नाम पर मारते हैं, मरते हैं
क्योंकि स्वातन्त्र्य से डरते हैं।

—अज्ञेय

× × ×

कविकर्म

फिर पूरा पखवारा चलकर
चाँद फूल की पहली पंखुरी
चित्रकार ने एक बार जब
और उरेही
मेरे मन का घिरा कुहासा हटा
चाँदनी बरसी
यह तुम हो जो अँधियारे से
ज्यादा से ज्यादा जो केवल एक पाख का
डर घबराकर
आँख चुराकर
कर्मों की जीवन्त कड़ी को
भूल बैठे निष्क्रिय
अँधियारा वह
जिससे लड़ने में
सूरज ने और चाँद ने
नखतों की उजियारी
मानिकमयी छाँह ने हार न मानी
उससे तुम हारे !
ओ स्रष्टा ! उस पर तुमने
सर्जन के क्या वारे !

मैं ? सचमुच मैं ?
क्या इतने से ही थक आया !
नहीं ! नहीं ! बस नयी सुबह सा
मैंने एक सत्य अपनाया ।

—कीर्ति चौधरी

× × ×

पर्वत ऊपर

रात चाँदनी यह पहाड़ का छोर साथ में
पास खाइयाँ, मृत्यु सरीखी विटप छाँह में
ऊँघ रहे घाटी में सोये गाँव, झील, तट,
चौंकाती बैलों की घंटी गूँज राह में
उठा चाँद पत्तियाँ टाल लो, पर्वत ऊपर
रंगी खाइयाँ, लहरें चमका काला, भूधर,
मेरे अन्तर में भी यह वेदना लो जगी
मन के कोने कोने में नूतन प्रकाश भर ।

—लालजी सिंह

× × ×

कहीं सब बिखर न जाये

आज तुम्हारे द्वार
आने के पहले
पैर ठमक गये थे ।
यह भी नहीं कि यह रास्ता अपरचित था

यह भी नहीं कि उठे चरणों में और कहीं जाने की
चाह जगी थी।
पर शायद कुछ ऐसा था
जैसे गुलदस्ते को छूने में भय लगे
कि कहीं सब बिखर न जाये।
शायद यही भय था
जो हृदय के अनिश्चय से
पाँव रोकता रहा
कि कहीं सब बिखर न जाये।

—प्रमोद

ऊपर सर्वश्री कुँवरनारायण, नरेश मेहता, बसन्त देव अज्ञेय, कीर्ति चौधरी, लालजी सिंह और प्रमोद की नयी कवितायें दी गई हैं। ये कवितायें अलग-अलग ढंग की हैं। इनकी रचना के बाह्य उपकरण पर पहले हम विचार करेंगे।

ऊपर दी गयी रचनाओं में भाषा संबंधी प्रयोग का जहाँ तक संबंध है विशेष चौंकानेवाली बात केवल नरेश मेहता की कविता है; दूसरी चिन्ता का कारण एकाध कविता में नीरस गद्यात्मकता का प्रभाव है। ऐसा लगता है कि नरेश मेहता भाषा में नया प्रयोग करना चाहते हैं। पर उनके इस प्रयोग का कहीं से समर्थन प्राप्त नहीं है। समर्थन उसे प्राप्त होता है; जो अधिक से अधिक के लाभ के लिए प्रयोग करता है। ऐसे प्रयोगकर्ता का व्यक्तित्व हिमालय की भाँति होना चाहिए। जब ये दोनों गुण व्यक्ति में नहीं होते तब उसकी दुविधा प्रदर्शन की होती है ताकि लोग नये प्रयोगकर्ता के रूप में मेरी पूजा करें। ऐसों का पूजा कराने के लिए ही सारा कार्य-व्यापार होता है। सिद्धि तपस्या से वह मुख मोड़ कर टीका की ओर अपना सारा ध्यान लगा देते हैं। एक उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा।

अधिकांश नये लोग प्रायः सिनेमा देखते हैं। सिनेमा के साथ विज्ञापन भी दिखाये जाते हैं। 'सिगरेटों' का विज्ञापन आजकल प्रायः सर्वत्र छवि गृहों में

दिखाया जाता है। होली के दृश्य आदि मन चले गीतों के बीच में फिट कर दिये जाते हैं और अन्त में समारोह में विज्ञापक की ओर से अभिनेताओं के द्वारा अपने सिगरेट की प्रशंसा करा दी जाती है। इतना बड़ा नाटक विज्ञापक इसलिए करता है कि यदि वह सीधे अपनी वस्तु का विज्ञापन करे तो उसका संभवतः कोई प्रभाव न पड़े। इसलिए वस्तु की सामर्थ्यहीनता के कारण उसे इतना बड़ा आयोजन करना पड़ता है। यही बात ऐसे भाषा प्रयोग के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

हो सकता है कि श्री मेहता ऐसा इसलिए कर रहे हों कि लोग उनकी कविता की ओर आकर्षित हों। बुद्धिवाद में उनका विश्वास है। बुद्धिवादी आकर्षण का मूल्य जानता है, विन्डोड्रेसिंग की महत्ता बुद्धिवाद में अनिवार्य है। लेकिन इसकी एक सीमा है। आकर्षण के नाम पर अरुचिपूर्ण और अनर्गलता भरी चीख-पुकार लोगों को एकत्र तो कर सकती है, लेकिन लोगों को अपने साथ रहने के लिये आकृष्ट नहीं कर सकती। ऐसी ही बात भाषा के एकान्त अनर्गल प्रयोगों के संबंध में कही जा सकती है। ऐसे लोगों के कारण 'नयी कविता' के उन कवियों को आघात पहुँच रहा है जो वास्तव में अच्छी कविता लिख रहे हैं। फैशन के कारण भी कुछ अधकचरे युवक इस कविता को लांछित कराने में सहायक हो रहे हैं। वे मुक्ति का अर्थ यह लगाते हैं कि छोटी बड़ी पंक्तियों में जो कुछ भी लिख दिया जायेगा, वह नयी कविता हो जायेगी। इससे विरोध को प्रोत्साहन मिल रहा है। पर आज जो अधिकांश प्रबुद्ध जन नयी कविताएँ लिख रहे हैं, उनमें चौंकानेवाली बात नहीं के बराबर है। कुछ लोग व्यक्तिगत या नेतृत्व के विरोध के कारण तिल का यदि ताड़ बनाते हैं तो उसकी परवाह कौन भला करता है? लेकिन नयी कवितावालों को अपनी शक्ति दृढ़ करने के लिए अनर्गल प्रयोगशीलों की निश्चय ही भर्त्सना कर कुंठा के प्रसार पर घेरा डाल देना चाहिये। इससे नयी कविता का भला होगा; विरोध स्वयं समाप्त हो जायेगा।

नयी कविता में अनेक कवियों ने कुछ नये शब्दों का (जिनका प्रयोग उठ गया था या जो देशज हैं) प्रयोग किया है। उनमें से अधिकांश द्वारा अभि-

व्यक्ति की शक्ति को बल मिला है। कविता का भाषा-कोश समृद्धशाली हुआ है। निरपेक्ष रूप से यह कार्य प्रशंसनीय है तथा नयी कविता की यह देन है।

नयी कविता छंद और अछंद दोनों प्रकार की है। छंदों को छोटे-छोटे टुकड़ों में तोड़कर रखने पर एक एक शब्द अपने भीतर छिपे हुए भावचित्रों को जहाँ मूर्त्त करने में सहायक होते हैं, वही रचना-शिल्प का अधकचरापन कहीं-कहीं विकृति उत्पन्न कर देता है। ऐसी विकृति सुकृति के मस्तक पर कलंक का टीका बन रही है। लेकिन ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो इस बारीक शिल्प-विधि से परिचित न हों।

कविता में लय का अनिवार्य स्थान है। इसे सभी मानते हैं। अछंद कविताओं में अधिकांश गद्य-गीत लिखे जा रहे हैं। यह खेद की बात है। इस कमजोरी को छिपाने के लिए सिद्धान्त का सहारा लिया जा रहा है, यह उससे भी खेद की बात है।

कोई कहता है अर्थ में लय है, कोई कहता है भाव में लय है, कोई कहता है, चित्र में लय है तो फिर कोई यह भी कह सकता है कि छपाई और मेक-अप गेट-अप में भी लय है। प्रश्न यह है कि पूर्ण रूप से कविता में लय है कि नहीं। दलीलें देना सरल है किन्तु दलील से कानूनी विजय प्राप्त की जा सकती है, हृदय नहीं जीता जा सकता, सत्य नहीं छिपाया जा सकता। कविता का संबंध सत्य से सभी मानते हैं। इसीलिए सत्य की अक्षरा शोभा की बात नहीं है। नयी कविता के अधिकांश सधे कवियों की रचनाओं में लय है, वे लय का महत्व समझते हैं, भले ही कहीं-कहीं अक्षमता के कारण लय-भंग का दर्शन मिले पर ऐसे स्थान अधिक नहीं मिलेंगे।

रही भाव-प्रकाशन की बात। नया कवि कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक भाव चित्रात्मक रूप में व्यक्त करना चाहता है। इसके लिए प्रतीक विधान का आयोजन उसे करना पड़ रहा है। पुराने प्रतीकों से वह सन्तुष्ट नहीं, शायद वे रूढ़ हो गये हैं। इसलिए वह नये प्रतीक खोज रहा है। नये प्रतीक जहाँ वह भारतीय वातावरण से ले रहा है, वहाँ कोई कठिनाई नहीं है, जब

वह अज्ञात कुल-शील विदेशी प्रतीकों को इस देश में अपना कह कर देने चलता है तो विकृति उत्पन्न हो जाती है। भले ही विज्ञान ने विश्व को एक सूत्र में बाँध दिया हो, पर विश्व के सभी देशों और स्थानों पर एक ढंग से न तो औद्योगिक प्रगति हुई है और न एक ही स्तर पर बौद्धिकता का विकास। अलग-अलग स्थान पर भूगोल ने अलग-अलग स्वभाव बनाया है, अलग अलग संस्कार प्रतिष्ठा की है। प्रकृति की स्वभाव रचना प्रक्रिया अलग-अलग ताप में अलग रूप में हुई है इसलिए साइबेरिया के भाव-वाहन के प्रतीक भारत में और भारत के प्रतीक दक्षिणी ध्रुव के काम के नहीं हो सकते। भले ही उनमें से कुछ काम के हों।

दूसरी बात कहने कि यह है कि जूठन खानेवाले भक्त तो हो सकते हैं, भगवान नहीं। स्रष्टा विधाता का एक रूप है। अनेक नये कवि विदेशी कविता का नयी कविता के नाम पर अनुवाद कर रहे हैं। पर नवीनता के व्यामोह में विदेशों में मरे वादों को पुनः जिलाने का कार्य नवीनता के व्यामोह में कर रहे हैं। ऐसी रुग्ण वृत्ति की भर्त्सना होनी ही चाहिये। यह आरोप सब पर नहीं है लेकिन अनेक इस आरोप से मुक्त भी नहीं हैं। इसलिए मृत्यु नहीं जीवन के जग की उपासना होनी चाहिये। श्रम की नहीं शक्ति की अभिव्यंजना होनी चाहिये। अनुकृति नहीं सुकृति का प्रवर्द्धन होना चाहिये।

अहं की अधिकता नयी कविता का सबसे बड़ा दोष तो है ही विकृति की चेतना का आगार भी है। स्रष्टा यदि अपनी सृष्टि के प्रति निर्मम नहीं है तो निश्चय ही वही परिणाम होगा जो विधाता के सरस्वती के प्रति मोह का हुआ था। इस व्यामोह से विरक्ति हीन-ग्रंथि का पाश खोल नयी कविता को चेतनामयी नयी दृष्टि देगी। माड़े जालेवाली आँखें स्वयं को धोखा देती हैं, यह बात भूलने की नहीं है।

एक बात नयी कविता के सम्बन्ध में कहने की यह है कि एक नहीं अनेक वाद और विचार धारा के लोग नयी कविता के आन्दोलन में एक साथ हैं।

इसे कुछ लोग वैचित्र्य मान सकते हैं लेकिन वास्तव में व्यंजना की नयी शक्ति के लिए ऐसी भीड़ जुट गयी है। तमाशबीन अपने आप छट जायेंगे। नये रूप-साज के लिए जो वास्तव में सचेष्ट है, वे ही रह जायेंगे। यह कोई नयी बात नहीं है, छायावाद के युग में भी ऐसा हो चुका है।

नयी कविता के बाढ़ का पानी उतार पर है, भले ही उसका रंग आज मटमैला है, इसमें स्वच्छ निर्मल जल का प्रवाह होगा प्रकृति का यह नियम है। जो यह आशा करते हैं कि इस देश में भी कवि अपनी कविताएँ कागज पर अपने हाथ से लिखकर बाजार में बेचने ले जायेंगे, वे प्रकृति पर विश्वास न रखनेवाले अनावस्थावादी व्यक्ति हैं; निराशावादी होना उतना घातक नहीं है; जितना घातक निराशा का प्रचार करना है।

नीचे कुछ नयी कविताएँ दी जा रही हैं, संभवतः इन्हें देखकर नयी कविता के प्रति निराशा का भाव दूर होगाः—

अज्ञेय की कुछ पंक्तियाः—

हँस रही है वधू-जीवन तृप्तिमय है।
प्रियवदन अनुरक्त-यह उसकी विजय है।
गेह है, गति, गीत है लय है प्रणय है :
सभी कुछ है।
देखती हूँ दीठ—

लता टूटी, कुरमुराता मूल में है सूक्ष्म मय का कीट।

× × ×

गिरजा कुमार माथुर के बरफ़ का चिराग से—

हिम के सफेद दीपक की लौ
अब हुई लाल।
सदियों की जमी हुई मिट्टी
अब हो गयी ज्वाल।

यह कमल धरा का बरफीला
यह झील कटोरा चमकीला
ठंडे खेतों का कुसुम बदन
केसर की झांई से पीला,

लम्बे चिनार के पेड़
घाटियों के प्रहरी
नभ की उजली परछाईं
है जिन पर ठहरी

उठ रही शैल मालाएँ
सदियों से जवान
हर मंजिल खिंची हुई है
फूलों की कमान,

गोरे मुख पर उड़ता है
हल्का पवन चीर,
हैं स्वर्ग एक कल्पना
सत्य है काश्मीर।

सूरज सोने का फूल
चाँद हिम का चिराग
कलकूट घुल मिट्टी से अब
उठ रही आग।

बनकर शमशीर उठी जनता
बजता पर्वत का नक्कारा
नदियाँ बिजली बन उतर पड़ीं
हो गया लाल ध्रुव का तारा

× × ×

भवानी प्रसाद मिश्र की मङ्गल वर्षा से—

फिसली सी पगडंडी, खिसली आँख लजीली री,
इन्द्र धनुस रँग रँगी, आज मैं सहज रँगीली री,
रुनझुन बिछिया आज, हिला डुल मेरी वेणी री,
ऊंचे ऊँचे पैंग हिंडोला सरग नसेनी री,
और सखी सुन मोर! विजनवन दीखे घर सारी
पांके फूटे आज प्यारके, पानी बरसा री।

जब तक हमारे देश में हिमालय सा अडिग प्रहरी है, जब तक महोदधि भारतभूमि का चरण पखार सतत् यश गान कर रहे हैं। जब तक गंगा, यमुना, गोदावरी की धारा देश के हृदय का अभिसिंचन कर रही है, तब तक 'कविता' से हमें निराशा न मिलेगी। हमारी भाव-भूमि सदा सरस रही है, भविष्य में वह मधुरस की वर्षा करेगी, इसमें मुझे संदेह नहीं।